

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178884

UNIVERSAL
LIBRARY

रेड लाइट

(कहानी संग्रह)

कन्हैयालाल साहू

प्रकाशक

किताब महल,
भोहराव हाउस,
२३५, हार्नबी रोड,
बम्बई.

प्रथम संस्करण -- १९४७

[सर्वाधिकार लेखक द्वारा सुरक्षित]

मूल्य ३) तीन रुपये

मुद्रक

मदनलाल मलहोत्रा

रंगभूमि प्रिंटिंग प्रेस, १४१, शिवाजी पार्क,

बम्बई

अनुक्रम

प्राक्कथन	...	२
भूमिका	...	१२
१. रेड लाइट	...	१८
२. कवि की स्त्री	...	२६
३. भाभी	...	३६
४. सफ़र	...	४६
५. दंगल	...	५७
६. तोहमत	...	६६
७. स्वामी रामानन्द	...	८६
८. बिलामिया	..	१०८
९. अभिशाप	...	११७
१०. गोददान	...	१३४
११. रमिया की गाय	...	१४६
१२. मिरज़ा साहब	...	१६२
१३. “रिट्रीट”	...	१७७
१४. पंडित सुदामा	...	१९५
१५. एकांकी नाटक	...	२०७

प्यारे रोहित को

जिसने, मेरी कहानियों की तनिक भी परवाह न कर,
अपनी पेन्सिल से उन पर बतल्ल, मुर्गे,
हाथी इत्यादि की तस्वीरें अपने
मनोरंजनार्थ मुझसे बरबस
खिंचवाई थीं ।

“सुनता हूँ बड़े शौग से हस्ता का कमाना,
कुछ ख्याल है, कुछ अस्ल है, कुछ तज़े-बयाँ है।”

प्राक्कथन

इन कहानियों से हिन्दी संसार के पाठकों को परिचित कराते हुए मुझे अपने चक्षुष्य में उस विषय पर बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। लेखक की कृतियों का उचित मूल्य तो पाठक स्वयं आँक लेंगे। यह उनका अपना काम है।

किन्तु यहाँ यह बता देना अप्राप्तगिक न होगा कि इन कहानियों के लेखक, श्री कन्हैयालाल जी साहू, अङ्गरेज़ी के प्रतिष्ठित लेखक हैं, और उनकी अङ्गरेज़ी कविताएँ, निबन्ध, समालोचनाएँ तथा राजनैतिक लेख, कहानियाँ, नाटक इत्यादि सन् १९१४ से अन्यान्य पत्र, पत्रिकाओं में छपते रहे हैं। अङ्गरेज़ी कविताओं के दो संग्रह—‘दी फ़रलौन नेस्ट’ और ‘दी मोनिंग बेल’ १९३४ में प्रकाशित हो चुके हैं।

मुझे नहीं मालूम किस कारण मुझसे यह अनुरोध किया गया है कि आपके इस सुन्दर संग्रह की भूमिका मैं ही लिखूँ। हाँ, अलबत्ता, कुछ रोज़ हुए यह बात ज़रूर हुई थी कि मेरी लिखी हुई ‘अनवरी’ नाम की एक कहानी उनकी नज़र से गुज़री थी और जिसे उन्होंने अपनी अङ्गरेज़ी मासिक पत्रिका ‘जर्नलिस्ट एण्ड नेशन’ में प्रकाशित की थी; उसे पढ़कर उन्होंने यह निश्चय किया था कि ‘अनवरी’ का लेखक ही उनके संग्रह की भूमिका लिखने योग्य है; अतएव वह जिम्मेदारी—इसे तो मैं सम्मान ही मानता हूँ—मुझ पर छोड़ी गई। मैं तो स्वयं अपने को इस कठिन काम के योग्य नहीं समझता, किन्तु मुझमें उनके आग्रह को अस्वीकार करने की क्षमता नहीं। अतएव मैं इस भूमिका में, अपनी अल्प योग्यतानुसार, दो शब्द अवश्य कहूँगा।

लेखक ने इस संग्रह की कहानियों में से कम से कम आधी तो इसी विश्वास में लिखी हैं कि हिन्दी में अब तक मौलिक—मौलिक शब्द के सच्चे अर्थों में—उपन्यास और लघु कथा के नाम पर जो साहित्य निकला है उसमें अधिकांश कूड़ा-कचरा ही है। मैं रूपनारायण जी पांडेय से बिल्कुल सहमत हूँ जब वे अपने जोरदार शब्दों में कहते हैं “बंकिम बाबू के, रवि बाबू के, शरत् बाबू के जैसे उपन्यास बंगला में हैं वैसे उपन्यासों का जन्म अभी तक हिन्दी साहित्य में नहीं हो पाया।”

उपन्यासों के विषय में जाँ मैं ऊपर कह चुका हूँ वह लघु कथा या कहानी के प्रति तो विशेषतः लागू है। हिन्दी में ऊँचे दर्जे की कहानियों का बहुत अभाव है। कहानियों की जो बाढ़ आज हिन्दी साहित्य में आई हुई है वैसी तो शायद ही दुनिया के किसी मुल्क में, किसी ज़बान में लिखे हुए साहित्य के भीतर देखने को मिली होगी। यहाँ ढेरों कहानियाँ लिखी जा रही हैं; इनमें से क़ी सदी एक कहानी भी कहने योग्य कलात्मक नहीं होती। वे निरी खोखली होती—उनमें केवल शरीर होता है, आत्मा नहीं।

किसी भी साहित्य के भीतर, जब वह उस stage of evolution में हो जिसमें आज हिन्दी है, उसके किसी भी क्षेत्र में मौलिकता का प्रयास करना उन लोगों के लिए जो अङ्गरेज़ी भाषा या साहित्य से अपरिचित हैं, या, कम से कम, परिचय पर्याप्त मात्रा में नहीं रखते, या परिचित होने पर भी, अपने में मौलिक प्रतिभा का अभाव महसूस करते हैं, और केवल plagiarism के जोर पर कुछ चमत्कार दिखाने की वृत्ति रखते हैं—एक झूठी कल्पना है, झूठी डींग है। आज तो हिन्दी के उन लेखकों के लिए, जो पाश्चात्य साहित्य से सर्वथा अपरिचित हैं और अपना कला-कौशल केवल हिन्दी रूपान्तर में ही दिखा सकते हैं, यही श्रेयस्कर है कि वे अङ्गरेज़ी, फ्रेंच, रशियन, स्कैन्डिनेवियन

देशों के जगत प्रसिद्ध उपन्यासों के हिन्दी रूपान्तर से ही अपना भंडार भरें; और, मौलिकता की शोर अग्रसर न होकर, अपने समय और परिश्रम को अधिक उपयोगी काम में लगाएँ ।

मैंने, कुछ दिन हुए, यह किसी हिन्दी पुस्तक में पढ़ा था कि “हिन्दी कहानी का आरम्भ बँगला और अङ्गरेज़ी के अनुवाद से हुआ । फिर उसने यहाँ जड़ पकड़ ली, और लोक रुचि का आश्रय पा कर, खूब फली फूली ।” मैं यह मानने के लिए कदापि तैयार नहीं हूँ कि हिंदी की कहानियाँ खूब फली फूली हैं । हिंदी के लेखक—जहाँ तक इस भाषा में कहानियाँ मेरी नज़र से गुज़री हैं—अपनी कहानी को चिद्वत्तापूर्ण शब्दों के आडम्बर से थोथी बना देते हैं, और ‘दर्शन’ से उन्हें कुरूप तथा भद्दी । वे भूल जाते हैं कि कहानीकार का काम केवल कहानी कहने का है,* नकि वेदान्त और अद्वैतवाद पर व्याख्यान झाड़ने का ! सांकेतिकता और तथ्य-निरूपण ही ऊँची कला का गूढ़ मंत्र है । हिंदी के लेखक उपन्यास या कहानी को शास्त्रीय विषयों पर चिन्तन का यथेष्ट स्थान मान बैठते हैं । यह उनकी एक निरी भूल है ।

लघु कथा भले ही भारत की पुरानी कहानियों की ही सन्तान हो; किन्तु संस्कार उसका विदेशी अवश्य है; और लिबास, शक, अदा सब विदेशी हैं । यह निर्विवाद है । लघु-कथा यथार्थ में फ्रांस में

*I have never pretended to be anything but a story teller. It is a misfortune for me that the telling of a story just for the sake of the story is not an activity that is in favour with the intelligentsia. I endeavour to bear my misfortune with fortitude.—Somerset Maugham.

The story needs to be nothing but a story, subject only to beauty which is identical with truth. Prof. Hugh Walker.

अपने सौंदर्य, प्रभाव तथा प्रतिभा की पराकाष्ठा को पहुँच चुकी हैं; और इङ्ग्लैंड तथा अमेरिका ने भी इस साहित्य को काफ़ी ऊँचा उठा रखा है। नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क और रशिया में भी लघु कथा द्वारा लेखकों ने मानव-समाज के आन्तरिक द्वन्द्वों का खूब अच्छा अनुशीलन किया है। भारतवर्ष में, रवि बाबू के अतिरिक्त, लघु कथा में कहने योग्य सफलता हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी के इने-गिने लेखकों को ही (जिनके नाम एक हाथ की अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं) प्राप्त हुई है; किन्तु उनका स्थान, अङ्ग्रेज़ी रूपान्तर के अभाव के कारण, उन्हें विश्व-साहित्य में नहीं मिल पाया है। स्वाभिमान के कारण पक्षपातरहित निर्णय न दे सकना यह निस्सन्देह हिन्दी के समालोचकों की कमज़ोरी है। वैसे तो यूरोप भी रवि बाबू की लघु-कथा की कला का कायल नहीं; और न उनकी प्रतिभा, उन लोगों की नज़र में, लघु कथा पर अवलम्बित है। रवि बाबू की कहानियों का स्तकार पाश्चात्य समालोचक सम्भवतः इस कारण नहीं कर सके कि उन कहानियों का अङ्ग्रेज़ी रूपान्तर अधिकांश में यथेष्ट पटुता सहित न हो पाया था। सिस्टर निवेदिता और सी. एफ. एन्डरूज़ द्वारा किये हुए अनुवाद के अतिरिक्त, बाक़ी का रूपान्तर बेजानदार ही है। इससे रवि बाबू की प्रतिष्ठा को हानि पहुँची है। हम लोग, जो उनकी कहानियों को बँगला में, या हिन्दी में बड़े चातुर्य से रूबनारायण जी पाण्डेय द्वारा किए हुए रूपान्तर में पढ़ चुके हैं, यह जानते हैं कि रवि बाबू लघु कथा की कला में विश्व के तीन चार महा कलाकारों से टक्कर लेते हैं।

हिन्दी साहित्य में यह एक घृणित प्रथा प्रचलित है कि प्रायः सभी लेखक अपनी कहानी के शीर्षक के ऊपर “एक मनोवैज्ञानिक कहानी” का लेबल चस्पा कर पाठकों के आगे उपस्थित होते हैं। किन्तु इस श्रेणी के लेखक कहानी की शक्ति में जो कुछ भी देते हैं वह किसी भी

परिभाषानुसार 'मनोवैज्ञानिक' नहीं कहा जा सकता। वह प्रायः एक निरी घटना-प्रधान चीज़ होती है जिसमें मनोविज्ञान अथवा विश्लेषण जैसी कोई वस्तु नहीं होती। सूक्ष्मता, स्वाभाविकता, स्पष्टता या सौंदर्य—ये चीज़ें तो कोशों दूर रहती हैं। उन कहानियों की क्लिष्ट भाषा—जिसे मुहावरेदार हिंदी में 'लिकड़म' कहते हैं—पढ़ने वालों के स्तर में केवल दर्द पैदा करने की क्षमता प्रदान कर सकती है।

मैं तो कहता हूँ कि वह कहानी, कहानी ही नहीं है जो मनो-वैज्ञानिक नहीं। फिर क्यों व्यर्थ मनोविज्ञान का डंका बजाया जाय? हर मच्छी कहानी अपने अच्छे रूप, रंग, ढंग में एक मीमांसा ही तो है। मांपासाँ, आं हेनरी, समरसेट मोहम की हर कहानी में विश्लेषण है, और ये तीनों लघु कथा की कला में बहुत पटु माने गये हैं।

मेरा विश्वास है कि इस ग्रंथ की सभी कहानियाँ कलापूर्ण हैं। इनमें लालित्य और 'एकलिक' दोनों पर्याप्त मात्रा में हैं; इन कहानियों में कथानक की प्रधानता न होकर, मनोविश्लेषण की ही प्रचुरता है। लेखक ने 'प्रगति' और 'प्रचार' को तो अपनी कहानियों के पास तक न फटकने दिया है। क्योंकि इन चीज़ों को वे साहित्य का सौभाग्य नहीं, कलंक—अभिशाप मात्र मानते हैं। 'प्रगति' की परिभाषा मुझे तो अब तक किसी प्रगतिशील लेखक होने का दम भरने वाले कलाकार ने नहीं दी। मैंने उनसे अक्सर एक ही सवाल किया है : 'प्रगति' कब ईजाद हुई? क्या बाल्मीकि रामायण (या तुलसीदास की रामायण) या व्यास का महाभारत या कालीदास का शकुन्तला—ये ग्रन्थ प्रगतिशील नहीं हैं? क्या शेक्सपीयर के नाटकों में प्रगति नहीं है? क्या होमर की "इलियड," दान्ते की "डिव्हाइन कॉमेडी" में प्रगति नहीं है? क्या रवि वाच की "गीतांजलि" में प्रगति नहीं है? क्या बरनर्ड शा के "सेन्ट जॉन" में प्रगति नहीं है? क्या पर्ल बक की "गुड अर्थ," गांधीजी

की “माइ एक्सपेरिमेंट विथ दूथ” में प्रगति नहीं है ? और यदि इन सब में है तो किस सच्चे साहित्य में प्रगति नहीं होती है ? सच्चा साहित्य ही प्रगति है । क्यों उसे ‘सच्चा’ या ‘कूठा’ विशेषण न देकर एक नया शब्द—या पुराने शब्द का नया अर्थ—ढूँढ़ कर निकाला जाय, और उस ‘प्रगति’ शब्द का प्रयोग एक सास्यवादी दलबन्दी के दायरे के भीतर किया जाय ? मैं प्रगतिशील लेखकों को खूब जानता हूँ । वे लिखते हैं कम्युनिस्ट रशिया की वे समझी बूझी भाषा में फिज़ूल-सी धाज़ें, और समझ बैठते हैं कि उन लोगों ने ही आज की दुनिया का प्रगति प्रदान की है ।

साहित्य जीवन की एक भाँकी है जिसमें अश्लीलता नाम की कोई चीज़ नहीं होती । अतएव यथार्थवाद और सौंदर्य में कोई संघर्ष नहीं हो सकता । साहित्य में कलापूर्ण सौंदर्य एक कोमिश्रा है जो संसार भर का अश्लीलता को कलामय कांचन में परिवर्तित कर देता है ।

सम्भव है कि हिन्दी के कुछ रूढ़िवादी समालोचक इस संग्रह की कुछ कहानियों को (उनके यथार्थवाद को अश्लीलता समझ कर) अश्लील कहें; किंतु ऐसा कहने में वे केवल अपनी बुद्धि की संकीर्णता का ही परिचय देंगे । मांपासों की कहानियों को समझने और उस अमर कलाकार की प्रशंसा करने का दावा रखने वाले हिन्दी पाठकों को इन कहानियों में अश्लीलता जैसी कोई चीज़ ही नहीं मिलनी चाहिए । गुड़ खाने के बाद गुलगुल्लों से परहेज़ क्यों ? समरसेट मोहेम की ‘दी बुक बेग’ या फ्रेनी हर्स्ट को ‘गिल्टी’ या अर्नेस्ट हेमिंग वे की ‘दी स्नॉज़ आफ़ किलिमंजारो’ या रेडक्लिफ़ हाल की ‘वेल ऑफ़ लोनलीनेस’ जैसी जीवन की नग्न यथार्थता को पढ़कर जिन पाठकों की बाछें खिल जाती हैं उन्हें तो इस संग्रह की ‘मिर्ज़ासाहब’ या ‘गोंददान’ जैसी कहानी में आपत्तिजनक कोई बात न मिलनी चाहिए ।

लेखक ने इन कहानियों को किसी खास 'पैटर्न' पर नहीं लिखा है। हर लेखक की एक निराली कथा-वस्तु, उसकी अपनी एक भाषा शैली, उसका विशेष तथा वैयक्तिक दार्शनिक दृष्टिकोण, उसका अपना 'प्रतीकवाद', अपनी शैकेतिकता, कथानक में अपनी संजीदगी और अपना ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण होता है, जो युनिवर्सिटी की किसी टेक्स्ट बुक से न लिया जाकर, जीवन के गाढ़े परिचय से ही प्राप्त होता है। इसी कारण अच्छे साहित्य में ऐसे चतुर या दक्ष कलाकारों की सदा कमी रहती है जो अपना कथानक सीधा जीवन से ही उठा लेते हैं, और अपनी कथा का सारा ढाँचा अपने अनुभवों पर ही रखते हैं। हमारे लेखकों में से कौन सी सदी नब्बे तो ऐसे हैं जिनका (पुस्तकों से लिया हुआ) ज्ञान यथार्थ जगत् के प्रशस्त आँगन में आ हकाबका रह जाता है। हम उनसे सच्चे कथा साहित्य के क्षेत्र में किस बात की आशा कर सकते हैं? यूरोप, अमेरिका में, हर किसी लेखक का स्वागत, जो एक सौ सफे की बंधी-छपी जिल्द में अनापशनास लेकर पाठकों के आंग्र आने की धृष्टता कर बैठता है, ऐसे शब्दों में कदापि नहीं किया जाता : "मैं इस युग की महान् प्रतिभा का स्वागत सम्मान करता हूँ।" हिन्दी साहित्य के भीतर ऐसी झूठी प्रशंसा, झूठा भमालांचना प्रायः सदा ही देखने में आती है। यह गुट-बन्दी और पारस्परिक मैत्रिक सहिष्णुता या वैमनस्य हिन्दी साहित्य का कलंक है।

लेखक ने इन कहानियों को लिखने में उसी सिद्धांत का अनुकरण किया है जिस सिद्धांत ने अच्छे लेखकों को सदा प्रेरित किया है : अतएव उन्होंने वही लिखा है जिसे लिखने को उनका मन चाहा। एमिल ज़ोला ने भी कभी यही कहा था— "I shall write what I please, as I please."

इस कृतियों में आदर्श के अभाव (डर) से, या अश्लीलता की आशंका के कारण, पात्र के मनोविकारों का गला बरबस नहीं घोंटा गया है ।

यह तो पाठक इन कहानियों को पढ़ने पर स्वयं देख लेंगे कि लेखक उन कृत्रिम सिद्धान्तों के क्रायल कदापि नहीं हैं कि जिसके अनुसार यह साहित्यिक कर्मनि समालोचकों द्वारा प्रायः निकाला जाता है कि कदानी का ध्येय जब तक मानव-कल्याण का भावना से परे रहेगा, तब तक वह मोहक शब्द-जाल है और वह कहानी साहित्यिक अङ्ग कभी नहीं मानी जा सकती । यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविकतः उठता है कि मानव-कल्याण किस साहित्य से होता है; और उसके निर्माण के लिए किन-२ चीजों की आवश्यकता होती है । ज़रूर किर्मा कर्मोटी पर कम कर ही साहित्य का असली और नकली रूप, या उसका लाभदायक या हानिकारक होना साबित हो सकता है । साहित्य मानव-कल्याण, यथार्थता के निकट रह कर ही, जीवन मरण के रहस्य की गुथियों को सुलझाने के कलात्मक उपक्रम द्वारा कर सकता है । किसी भी सत्य को—चाहे वह मीठा हो या कड़वा, आकर्षक हो या कुरूप—कथा में पिरो-कर उसे पाठकों के आगे इस चतुर्गई से लाया जाय कि उन्हें जीवन की सच्ची झोंकी देखने का भास हो ।

सत्य की परिभाषा दूसरी दुर्गम पहाड़ी है जिसे साहित्यकार और दार्शनिक दोनों सुगमता से पार नहीं कर पाते । सत्य में सौंदर्य है और सौंदर्य में सत्य—यह संसार भर के विद्वानों ने प्रायः एक कंठ से कहा है । किन्तु मनुष्य ने प्रत्येक युग में सौंदर्य का आदर्श निराला गढ़ा है, और जब उसमें सदाचार-सूत्र के सहारे साहित्य निर्माण का प्रश्न उपास्थित होता है तो वहाँ एक नये संघर्ष का सामना करना पड़ता है—साहित्य में अश्लीलता जैसी कोई चीज है, या कलात्मक

विभूतियाँ सर्वथा कल्याण-कारक ही होती हैं ? यह याद रहे कि आजकल के हिन्दी समालोचक कथा साहित्य को धर्म की पवित्रता देने पर तुलें हैं। उनकी दलीलों को सुनकर आपको द्वापर युग के बाल-ब्रह्मचारी शुकदेव और इन्द्र की मायाविनी रंभा संवाद याद आ जाता है।

एक अङ्गरेजी समालोचक किमी जगह लिखता है कि साहित्य में उन सभी चीजों का समावेश है जिसमें लेखक ने अपना काम *samity, a certain largeness and attraction of form* के साथ किया हो। इस सिद्धांत के अनुसार साहित्य गन्दे से गन्दा विषय लेकर भी उसे *attractive form* दे सकता है, ताकि वह साहित्य का एक सच्ची चीज़ बन जाय। किन्तु हमारे समालोचकों का इंस विषय की गन्दगी से ही है। 'क़ार्म' कितना ही खुशनुमा आप दे सकें उनके लेखे वह साहित्य के योग्य चीज़ बन ही नहीं सकती; और इन पवित्रता के पुजारियों के साथ दूसरी मुश्किल यह है कि गन्दगी की परिभाषा इनकी अपनी एक विचित्र भावना है जो हिन्दु-स्तानी साहित्य और फिल्मों को ही लागू है। जब वे लोग वही गन्दगी यूरोपियन, इंग्लिश और अमेरिकन कृतियों में पाते हैं तो उनका बाछें खिल जाती हैं।

इन कहानियों के पात्रों को सदाचार सूत्र के अनुसार चलाने की व्यर्थ कोशिश नहीं की गई है। वे अपनी स्वतन्त्र प्रकृति के अनुकूल ही चलते हैं। इसे चाहे यथार्थवाद कहिए या और किसी नाम से पुकारिये।

मैं ऊपर कह ही चुका हूँ कि मुझे इन कहानियों के विषय में इस जगह बहुत कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। स्वयं पाठक उनका उचित मूल्य आँक सकेंगे। वस्तुतः यदि देखा जाय तो मालूम होगा कि समीक्षक की थोथी आलोचना से (उनमें प्रायः पक्षपातरहित अविवेचन की क्षमता न होने के कारण) न लेखक का ही कुछ बनता

बिगड़ता है और न चतुर पाठक ही उनकी झूठी दलीलों से ग्रहण
सकता है। यह तो मैं जानता हूँ।

बम्बई,

रमेश गुप्ता

अक्टूबर, १९४७

भूमिका

हिंदी के 'मनोवैज्ञानिक' कहानियों के प्रेमिया को आज मैं अपना बीस कहानियों का यह संग्रह इस विश्वास में दे रहा हूँ कि वे स्वयं मेरी कृतियों का उचित मूल्य आँक सकेंगे।

इसमें से केवल एक कहानी, "कवि की स्त्री," संयुक्त प्रांत की एक प्रतिष्ठित साप्ताहिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। बाकी की उन्नीसों कहानियाँ, ज्यों की त्यों, इस संग्रह में पहली बार प्रकाशित हो रही हैं।

यहाँ इतना कह देना अनिवार्य है कि "कवि की स्त्री" के साथ उस पत्रिका के क्राबिल संपादक महोदय ने बहुत ज्यादाती बरती थी। जब उस कहानी की नायिका को लेखक ने, किसी मंजिल पर, अपने पति के घर से भाग कर, एक मुसलमान शौहर से शादी करने पर मजबूर किया, तो संपादक महोदय ने, मनमाना हस्तक्षेप कर, उसे भगाया ज़रूर, लेकिन एक मुसलमान के पाले न पड़ने देकर, उसकी शादी एक क्रिस्तान युवक से ही कर दी। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविकतः उपस्थित होता है कि, जब लड़की अपने पति के घर से भाग ही निकलती है, तो इससे क्या प्रयोजन कि वह शौहर, जिससे वह दोबारा शादी करे प्रभु ईसा का ही अनुयायी हो, न कि मुहम्मद साहब का ! मैं इन अखबार-नवीसों की मनोवृत्ति से भलो-भांति परिचित हूँ, और मैं यह भी जानता हूँ कि इन लोगों ने अपनी दक्षिणानूसी से असंख्य कहानियों का गला किस तरह घोंटा है। इस किस्म की बेजा दस्तन्दाजी, साहित्यिक चीजों में, हमारे साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को कलुषित तथा भंकीर्ण साबित करती है। किन्तु हमारे हिन्दी पत्रों के सम्पादकों में से

बहुत से ऐसे हैं जो अखबार-नवीसी में अपनी कलम घिसते घिसते साहित्य में भी बड़ी ढिठाई से टाँग अड़ाने लगते हैं। ये पत्रकार, प्रेस का नाजायज़ फायदा उठा, प्यार, पाँच महज़ निकम्मी किताबें (भाषा की अशुद्धियों से परिपूर्ण) अपने नाम से प्रकाशित कर, साहित्यकार होने का दम भरते हैं। आँख के अन्धे नाम नयन सुख !

मैं इस नतीजे को पहुँच चुका हूँ कि उन लेखकों के लिये जिन्हें अपनी कृतियों पर श्रद्धा है यह निरी भूल है कि वे अपनी कहानियों, पुस्तक के रूप में प्रकाशित होने से पहले, पत्रिकाओं में छपवा कर उनकी दुर्गति होते देखें। कलात्मक कहानियों को समझने की क्षमता रखने वाले आज आपको इन कलम-घिससुओं में क्वचिन् ही मिलेंगे।

मैं अपने वक्तव्य में यहाँ इसके अतिरिक्त और कुछ न कहूँगा कि मेरी कहानियों को पाठक रुढ़ीवाद के सहारे समझने की कोशिश कदापि न करें। मैंने इन कहानियों को दिल खोलकर कला की सच्ची स्वच्छन्दता में ही लिखा है, न कि शुष्क तर्क या सिद्धान्त स्थापन के लिये इन कहानियों को हठात गढ़ा गया है। हिन्दी का एक समालोचक अपनी भूमिका में किसी जगह यह भी लिख गया है कि “वह सारा साहित्य जो व्यक्तिगत चारित्रिक विशेषताओं, आधारण परिस्थितियों, ऐकान्तिक मनोविज्ञान, सामाजिक निष्क्रियता, और उद्देश्यहीनता का निरूपक है, चाहे वह साहित्यिक दृष्टि से कितना ही प्रशस्त और ललित क्यों न हो, मेरी अपनी रुचि के अनुकूल नहीं।” अच्छा ही हुआ कि समालोचक ने अपनी रुचि पर ही बात लाकर खत्म कर दी, वरना यहाँ उसे एक बड़े झगड़े का सामना करना पड़ता। विवेचना—साहित्यिक विवेचना सदैव किसी सिद्धान्त पर ही की जाती है। ऊट-पटांग बातों को एक सुन्दर शब्द—विन्यास में मढ़ देने से तो वह निर्विवाद सत्य की शकल नहीं ले लेती। वह सदैवा समालोचक की

अपनी एक अभिरुचि का ही प्रश्न रहता है, जिसका प्रदर्शन साहित्यिक विश्लेषण में कोई म्यान नहीं रखता। और जब वह समालोचक यह कहता है कि उद्देश्यहीन चीजें भी प्रशस्त और ललित हो सकती हैं, तब तो बस वह कमाल ही कर जाता है। मैंने यहाँ इस समालोचक की कुछ दलीलों का इस उद्देश्य से उल्लेख किया है कि पाठक इस तरह के कुतर्कज को आज के हिन्दी समालोचकों का एक आसत प्रतिनिधि ही मान कर उसकी 'तिकड़म' की ओर कदापि ध्यान न दें। अपना निर्णय स्वयम् दें। आखिर कहानीकार जो कुछ भी लिखता है वह तो जनसाधारण के लिये ही लिखता है, न कि समालोचकों के लिए— जो केवल भाषा के विरत पर बे सल-पैर की बात ले उसे एक खासी बतकड़ बना छोड़ते हैं।

बंबई :

कन्हैयालाल साहू

अक्टूबर, १९४७.

रेड लाइट

अरसे से हम तीनों का एक गुट रहा और अज भी हम तीनों लॉ-स्टूडेंट्स होस्टल में साथ ही रहते हैं—यूसुफ, जगमोहन और मैं। हम लोग साथ ही सेंट्रल जॉन कॉलेज, आगरा, से बी. ए. पास हुए थे। सिफ़त यह थी : हम तीनों बनारस के रामनाथ हाई स्कूल से 'पाम' डिप्लोमा में मैट्रिक पास हुए थे; और तीनों एक साथ आगरा आकर एक ही कॉलेज में एक ही दिन दाखिल हुए। हम तीनों बराबर हर साल पास होते चले गए : और हम तीनों ने आखिर तक क़ौल पूरा निभाया। तीनों ही थर्ड डिप्लोमा में पास हुए थे। बाद में जब हमें अपने अपने मार्क्स मालूम हुए तो देखते क्या हैं कि यूसुफ को मुझसे सात मार्क्स कम और जगमोहन को मुझसे सात मार्क्स ज्यादा मिले थे।

यूसुफ के वालिद रोज़गार करते थे। बनारस में उनकी मनहार की दूकान थी। खूब पैसा कमाया था उन्होंने। जगमोहन के पिता पुरानी बिगड़ी हुई रईसी के मौजूदा मिसाल थे। पैसा तो पुश्तों की बरबादी के बाद भी जगमोहन के पिता के पास न रहा होगा तो एक लाख से क्या कम रहा होगा। मेरे पिता ने भी क़ालत में अच्छा पैसा कमाया था। मरते समय नज़्द अस्सी हज़ार छोड़ गए, और पच्चीस पच्चीस हज़ार की दो बीमा पॉलिसी।

हम तीन थे—दो हिन्दू और एक मुसलमान; लेकिन स्कूल में साथ पूरे सात साल रहे और पूरे चार साल कॉलेज में। हम लोगों में कोई साम्प्रदायिक भेद भाव कभी न रहा। यहाँ तक कि जगमोहन और मैं यूसुफ के साथ ईद में शरीक होते और यूसुफ हमारे साथ होली और

दीवाली में। एक मरतबा रमज़ान शरीफ़ के रोज़े भी हम दोनों ने यूसुफ़ के साथ ही रखे। बड़ा लुईक़ था उन रोज़ों में। यूसुफ़ मुझसे कहता : “अबे रखे जा; क्यों हिम्मत हारता है ? ऐसी सिवइयें खिलाऊँ कि तू रोज़े की परेशानी को भूल ही जायगा।” वाकई रोज़ों के बाद यूसुफ़ ने क्या-मज़ेदार सिवइयाँ खिलाईं कि हम तो इसलाम के रोज़े के जन्म भर कायल रहेंगे।

मैं एक दिन जगमोहन मे कह उठा : “यार, जगमोहन, मैं तो मुसलमान होता हूँ। मुझे तो कोई ज़ीनत, नूरजहां, खुरशीद, अममत ज़ेम्प नाम की बीवी पसन्द है। और यार ये रमज़ान के रोज़े ईद का चाँद देखने की बेकरारी और मीठी ईद की सिवइयाँ—बस कह दिया हमने अब तो हम बन गए काली कमलीवाले के साँदाई !” जगमोहन मेरी ठठोल आदतों से काफ़ी वाकफिमतरख़ता था। हँसता और कहता : “अबे, जमना के बच्चे, युसुफ़ का मज़हब अच्छा है तो तेरा क्या ख़राब है ? वह क्योंकर हिन्दू बने ? तू क्योंकर मुसलमान बने ? हम सभी तो उसके साथ हैं : और वह क्या अपना साथ हर बात में नहीं देता ? वह कभी कहता भी है कि वह हिन्दू हो जायगा ?”

जगमोहन ने मुझे समझने में आज ग़लती की। वह मेरा मज़ाक़ न समझ पाया। नहीं तो वह मुझे यह लेक्चर न देता। मैंने मुस्कुराते हुए कहा :

“तेरी अज़ल आज कहाँ चरने गई है, यार ? यह तो मैं मज़ाक़ कर रहा था। क्या तू इसे सच समझ बैठा ?”

“देख जमनालाल मुझसे न चाल चल। मैं देख रहा हूँ कि कुछ रोज़े से तू इस्लामी सलीका सीख रहा है। मुझे तो तेरे आसार अच्छे नहीं नज़र आते।”

मैं बिगड़ पड़ा।

“क्यों ? तूने ऐसी क्या चीज़ मुझ में देखा जो तू मुझ पर यह इलज़ाम लगाता है ?” मैंने ज़रा तन कर कहा ।

“कह दूँ ? देख बुरा न मानना !”

“कह दे, कह दे ।”

“क्या तूने मच यूसुफ़ से नहीं कहा कि लो के बीद तू किसी मुस्लिम लड़की से ही शादी करने जा रहा है । और तूने उसकी मदद इस मिलमिले में नहीं माँगी ?”

मैं चुप्पी साध गया । बात तो ठीक ही थी कहाँ तक कोरी मुँहज़ोरी करता ! हँसकर बोला :

“क्यों, जगमोहन, क्या मुसलमान बीबी कर लेने से हिन्दू पति मुसलमान बन जाता है ? बी. ए. पास किया है, याग, तुमने; यह कौन सी लॉजिक के साथ दलील कर रहे हो !”

जगमोहन ने मेरे सर पर एक टप्पू लगाकर कहा :

“क्यों बे तुझे यह मुसलमान बीबी का क्या ख़ुब्त सवाग हुआ है ? क्या हिन्दुस्तान में तेरे लायक हिन्दू बीबी मिलेगी ही नहीं ?”

यूसुफ़ बरामदे में टहल रहा था, उसके कानों में कुछ भनक पड़ी कि हम दोनों में बात कुछ हिन्दू-मुस्लिम बीबी के सिलमिले में हो रही है, कमरे में आकर उसने पूछा : “क्यों, भई, क्या बहस है ज़रा हम भी तो सुनें ?”

मैंने कहा :

“जगमोहन कहता है कि मुस्लिम बीबी से अच्छी हिन्दू बीबी हो ही नहीं सकती और मैं कह रहा हूँ कि हिन्दू बीबी से अच्छी मुस्लिम बीबी नहीं हो सकती । अब कहिए आप की क्या राय है, जनाब यूसुफ़ साहब ?”

यूसुफ़ ख़ूब हँसा; हम दोनों की ओर देख कर वह बोला :

“तुम दोनों अकलमन्द इन्सान हो।”

जगमोहन मेरी शरारत को देख कर चुप रहा, उसे यकीन था कि यूसुफ़ से सवाल ज़िम तरह भी हेर-फेर कर किया जाय, जवाब वह निहायत चुस्ती के साथ ही देगा। जगमोहन ने पूछा :

“ज़रा साफ़ साफ़ फ़रमाइये, मियाँ।”

“बांत तो साफ़ ही है। दोनों मज़हबों में अच्छी बुरी बीबियाँ मिलना निहायत मुमकिन है। तुम दोनों ने बजा कहा है,”

मैंने कहा :

“देख, यूसुफ़, असल में मैंने मुस्लिम बीबी की तरफ़दारी की थी; जगमोहन तो हिन्दू बीबी की तरफ़ से वैकालत कर रहा था。”

यूसुफ़ कमरे से बाहर निकलता हुआ बोला :

“That does not alter the matter.”

एक दिन फिर बहस छिड़ी। अब दरपेश था सवाल कि ‘मॉरेलिटी’ क्या चीज़ है। क्या इसका कोई यथार्थ में धर्म से सम्बन्ध है? या यह चीज़ यों ही समाज के स्वार्थ में बनाई हुई कृत्रिम चीज़ है, जिसकी उपयोगिता ही उसका सारा सौंदर्य है; उसके अतिरिक्त वस्तुतः कुछ नहीं।

जगमोहन, उम्र में मुझ से एक वर्ष बड़ा था। यूसुफ़ वास्तव में मेरी ही उम्र का था, परन्तु उसके दूरदर्शी पिता ने उसकी उम्र के दो साल छिपाये थे। अतएव, वह कॉलेज के रजिस्टर के अनुसार मेरी ही आयु का था। दुनिया की बातों में जगमोहन को मुझसे बहुत इशदह तजरबा था। और यूसुफ़ मियाँ जानते बहुत कुछ थे पर चनते ऐसे कि मानों बड़े भोले हैं।

जगमोहन ने गम्भीर भाव से कहा :

“मेरा एक प्रस्ताव है”

“रखिए आगे,” हम दोनों ने प्रायः एक साथ ही कहा।

जगमोहन ज़रा पास खिसक आया और बहुत आहिस्ता आहिस्ता बोला :

“चला न जाए आज रात कहीं ?”

यूसुफ़ हँस पड़ा,

“क्या ब्रेन-वेन्ड है, यार !” उसने दाद दी,

मैं तो कुछ समझ ही न सका, बोलता क्या ? देखता ही रहा। जगमोहन भाँप गया कि गधे के सर में बात न घुसी।

“अम्मा, देखता क्या है। बुद्धू ही रहा। क्या करेगा कालत पास कर ? दुनिया का तो तुम्हें पता ही नहीं,” वह मुझे फटकार रहा था।

“क्यों बनाते हो, यार ? बोलो न साफ़—कहाँ चलने की बात है ?” मैंने पूछा।

जगमोहन ने गला माफ़ करते हुए कहा :

“वहीं, जहाँ तुम्हें ‘मॉरेलिटी’ की सच्ची ‘डेफिनीशन’ मिलेगी।”

“यानी ?” मैं बुद्धू बनता चला गया।

“To a red light,” यूसुफ़ ने हँसते हुए कहा।

मैं चकराया, मैं इस ‘फ्रेज़’ से नावाक़िफ़ न था। दोनों ने कहा :
“क्या हर्ज है। इतमिनान से चला जाए।”

‘स्पिरिट ऑफ़ इन्क्वायरी’ के ‘मोटिव्ह’ से ही तो चलने की बात थी। क्या हर्ज था ? हम सब राज़ी हो गए।

शाम से ही तैयारियाँ होने लगीं। करना क्या था ? लेकिन जगमोहन तो ऐसा सजा कि मानो दूल्हा बनने जा रहा हो। यूसुफ़ मियाँ चूड़ीदार पाजामा और शेरवानी में बड़े भले लगते थे। मैं भी कुछ शरमाते

शरमाते अपने आप को मजाने की कोशिश करने लगा। दस बजे रात को एक इक्का मंगाकर हम तीनों उस पर सवार हो गए।

“कहाँ को, बाबू साहब ?”

“उसी के घर, जिसने आज कल आगरा में धूम मचा रखी है।” इक्केवाला मुस्कराया। एक अजीब चुलबुलाहट थी उसकी आंखों में। वह बोला :—

“अच्छन जान ! चलिण, चलिण बरशोक तमाम। खुदा आप को लाम्बा उम्र बरसे।”

इक्का कुछ सड़कों को पार कर धूमधामकर एक तंग गली के पास आ रुका।

“बस यहीं, इसी गली में, साहब। तीसरा घर। आपको गैस की तेज़ रोशनी ऊपर की खिड़की में नज़र आएगी,” इक्केवाले ने कहा।

हम लोग उतर पड़े। जगमोहन ने इक्केवाले को दो रुपए देते हुए कहा : “आप जाइए, बड़े मियाँ। हम लांग यहाँ न मालूम कब तक ठहरें।” इक्केवाला रुपए ले मुस्कराता हुआ अपने इक्के में जा बैठा और एक धुन गुनगुनाते हुए उसने अपने घाँड़े को बढ़ाया।

हम लोग गली में घुसे। काफ़ी अन्धेरा था। म्युनिसिपैलिटी का टिमटिमाता हुआ लैम्प दूर से हमारी राह में कुछ रोशनी फेंकने की नाकामयाब कोशिश कर रहा था। जगमोहन ‘पायलट’ बन आगे हुआ। यूसुफ़ मियाँ जगमोहन के पीछे हो लिए। मैं इस ट्रेन का ‘ब्रेक-व्हील’ बन गया। अतएव मैं दोनों के पीछे पीछे बड़े इतमिनान से चलने लगा।

तीसरा मकान ? यही तो तीसरा है। और ऊपर वाली खिड़की में काफ़ी तेज़ रोशनो भी चमक रही थी। इस रोशनी से सँकपका कर मैं ‘ब्रेक’ लगाने की फ़िक्र में ही था। पर ‘पायलट’ ने अपनी रफ़्तार वही रखी। दरवाज़े पर पहुँच कर कुंडी बजाई। दरवाज़ा खुला। “आइए

खलिण ऊपर, इधर सै” उस नवजवान ने कहा, जिसने अभी अभी हमें दरवाजा खोल कर दाखिल किया था। वह एक मैला-सा पाजामा, कुरता पहने हुए था। लेकिन उसके बाल सुगन्धित तेल से महक रहे थे। और उसने उन्हें बड़े छैलाना ढंग से संवार रखा था।

ऊपर जाकर हम लोग मसनद पर बैठ गए। कमरा खाली था। हमें बैठे हुए अभी दस मिनट भी न होने पाये थे कि एक निहायत हसीन औरत कमरे में दाखिल हुई। उम्र उसकी लगभग पच्चीस साल की होगी। उसने अपने शरीर को बड़ी नज़ाकत के साथ कपड़े और जेवर से सजा रखा था। लेकिन उसकी सबसे निराली नज़ाकत थी उसकी अदा। आते ही उसने कहा :

“आदाब अर्ज, माफ़ फ़रमाएँ, आप लोगों को इन्तज़ार करना पड़ा।”

हमलोगों की तबीअत बाग़ बाग़ हो गई। मैं अब भी कुछ पीछे ही बैठा था। यूँसुफ़ भी ज़रा दवा-सा रहा। लेकिन जगमोहन तो बड़ा ही चतुर अगुआ साबित हुआ। झट बोला :

“वाह, अर्च्छनजान, मुआफ़ी की क्या बात है ? हम लोग तो योंही घूमते घूमते चले आए कि चला ज़रा दिल बहलालें।”

“नवाज़िश है आप लोगों की। ज़रा क्यों ? खूब दिल बहलालें। यह तो आपका ही घर है।”

‘यूसुफ़ मियाँ बड़ी देर से सांच रहे थे ‘मैं क्यों कहूँ ?’ आख़िर बोल ही बैठे : “भई, हमतों रात भर यहीं टिकेंगे।”

मैं क्यों चुप रहता ? क्या ऐसे वक्त मैं अपने मुँह पर कालिख लगाता ? झट कहा मैंने :

“और, अर्च्छनजान, हम लोग कुछ सुनेंगे भी।”

“ज़रूर, ज़रूर,” अर्च्छन ने कहा; “कहिए क्या सुनाऊँ ?”

इशारा पहले ही हो चुका था। पानदान लाया गया। पान उसने

अपने हाथों से लगाए। मगर बरौर इशारे के एक चीज़ और तबई गई जिसे देख अच्छन से न रह गया। लाने वाले से कहा :

“यह तुम्हें किमने कहा था लाने ? लेजा अन्दर। ज़रा अन्नल से काम करो मियाँ। इन्सान पहिचानते हों या नहीं ?”

शराब की बोतल और प्याले फ़ौरन भीतर भेजे गए। अच्छन के माथे पर बज्र न आने पाए।

जगमोहन और यूसुफ़ का क्या हाल था मालूम नहीं; पर मैं तो अच्छन की अच्छाई पर तरस खा गया। धन ही मच मैंने कहा : “क्या हर्ज था ? जब थोड़ी देर के लिए यहाँ आए ही थे तो एक घूँट पी ही लेते। पर अब क्या ? वह चीज़ तो हाथ से निकल ही चुकी थी।

थोड़ी देर बाद अपने हाथ से पानदान हम लोगों की तरफ़ बढ़ाती हुई अच्छन बोली :

“आप में से तो कोई भी इस बुरी चीज़ को न छूता होगा ?” इशारा शराब की ओर था, जिसकी दूसरी बोतल अब भीतर ले जाई जा रही थी।

जगमोहन बोला :

“आप भी परहेज़ करती हैं बुरी चीज़ों से ?”

अच्छन घड़ी अदा के साथ मुस्कराती हुई बोली :

“किमी हद तक कह लेती हूँ।”

“आपका पेशा और परहेज़, इनमें तो अदावत है।”

“आप सच कहते हैं। इस पेशे पर खुदा की मार है।”

“यह आप कहती हैं ?”

“मुझ से ज्यादा हक़ और किसे हो सकता है यह कहने का ?”

जगमोहन जवाब देना ही चाहता था कि यूसुफ़ मियाँ बिलबिला

उठे :

“क्यों, अच्छन जान, इस पेशे को आप तौबा तौबा कहकर कैसे निभाती हैं ?”

“मुझमे क्यों पृच्छते हैं आप ये सब बातें ? हर पेशे में कुछ राज छिपा हुआ रहता है। मैं जानती हूँ कि मुझे कहाँ खुदा से डर कर चलना है। शान है उस मालिक की, मैंने इन्हीं उसूलों से अपनी जिन्दगी में काम लिया है, व इन्शा अल्लाह आखिर तक लेती रहूँगी।” यों कहते अच्छन को राहत महसूस हुई।

मैंने एक बात सोच रखी थी। इस मौक़े पर न बोलता तो और कब वह काम आती ? बोला :

“आप किस मज़हब को मानती हैं ?”

“मेरा पेशा ही मेरा मज़हब है,” अच्छन ने अपने हाँठ कमाल से पोछते हुए कहा।

“खुदा इस पेशे को भी बरकत देता है ?” मैं छिटाई करता चला गया।

“ज़रूर। खुदाई से बाहर क्या है ? करना आज आपलोग मेरे घर क्योंकर आते ?”

हम लोग हँस पड़े। बात तो चाक़ई लाजवाब थी।

अच्छन ने साज्जिन्दों का इशारा किया। तबला सारंगी मिलाये जाने लगे। एक निहायत फड़कती हुई राज़ल, छिड़ी।

हम तीनों का दिल मचल गया। इस घर में आ क्या मायूसी लेकर वापस जाएँगे ? आँखों २ ‘बसिसमा’ लेने की ठहरी !

दूसरी चीज़ छिड़ी, और फिर तीसरी भी। अब हम तीनों अच्छन के दामन से बंध गए !

अच्छन हम लोगों को निहायत चुस्त नज़रों से देख रही थी। उसने भाँप लिया कि आज अपनी कला-कौशल से अपने मादक

सौंदर्य की मादक वासुणी पिला कर तीन भले घर के पड़े-लिखे समझदार नवयुवकों को उसने बड़ी बेरहमी से धायल किया है। उनकी जेबों से सारा पैसा खींच लेना उसकी छोटी अङ्गुली का खेल था। पर वह जलील नहीं थी। उसकी जिन्दगी में एक उसूल था। वह गिरे हुए को गिरते देख सकती थी; और उनके माँगने पर उन्हें अपने यौवन का स्वाद भी देती थी। उनसे मुँह माँगा पैसा भी लेती। पर जब कभी कोई नवयुवक उसके पास आकर अपनी जवानी से उसकी जवानी का सौदा करना चाहता, तो वह मुस्कराती और कहती :

“मैं तुम्हारी हूँ। यह घर तुम्हारा है। आओ, बैठो। मैं तुम्हारा दिल बहलाऊँगी, लेकिन मुझे मजदूर न करो। मैं खुदा को मुँह न दिखा सकूँगी।”

हम लोग क्या जानते थे कि अच्छन जान ने दूकान खोल रखी है और फिर भी हर खरीदार को भौंदा देने से इन्कार करती है—कि अच्छन भी खुदा से खोफ खाती है ?

मैंने जगमोहन को इशारा किया। वह समझ गया। यूँक भी नाड़ गया।

जगमोहन उठा और बोला :

“अच्छन जान ज़रा इधर तो आइए।” और भीतर के कमरे में वे दोनों गए।

दो मिनट बाद दोनों बाहर आकर फिर अपनी अपनी जगह बैठ गए। अच्छन के चेहरे पर एक निहायत हल्की सी हँसी खेल रही थी। जगमोहन ने मुँह से अङ्गरेज़ी में कुछ स्कावट के साथ कहा :

“She is not willing to sin with us” (वह हम लोगों के साथ कोई बदफ़ैली नहीं करना चाहती)।

अच्छन ने अब हँस दिया।

शुश्रूषा मिथ्या ने कहा :

“Where is the question of sin in a house like this ?” (ऐसी जगह बदफ़ैली का सवाल ही कहाँ ?)

अच्छन अङ्गरेजी कुछ कुछ जानती थी। उसने जवाब दिया :

“मैं इतनी गिरी हुई नहीं हूँ।”

“कितनी ?” शुश्रूषा और मैं करीब करीब साथ बोल उठे।

“जितना आप लोग मुझे गिराना चाहते हैं।”

हमलोग उठ खड़े हुए। अपनी अपनी जेब से दस दस के नोट निकाल कर अच्छन की ओर हाथ बढ़ाया।

वह मुस्कुराई और बोली :

“नवाजिश है आपकी। मैं तो आपका ही दिया खाती हूँ। पर मैं आप लोगों का दिल न बहला सकी। चुनौचे यह पैसा मैं न लूँगी। आप बुरा न मानें।”

जब हम लोग इक्के पर सवार हो होस्टल लौट रहे थे तो जग-मोहन ने मुझसे शरारतन कहा :

“Do you understand morality better now, Jammalal ?” (अब तुम्हारी समझ में आया, जमनालाल, कि ‘मॉरेलिटी’ किसे कहते हैं ?)

मैंने कहा :

“तू बड़ा पाजी है।

शुश्रूषा ने कहा :

“ मैं जमनालाल को ‘मैकन्ट’ करता हूँ। ”

कवि का स्त्री

“क्यों जी तुम तो कवि हो ना ?”

“तुम्हारा क्या खयाल है ?”

“मैं तो कहती हूँ कि तुम हो ।”

“ना मैं कब कहता हूँ कि मैं नहीं हूँ ।”

“पर जानते हो कवि क्या होते हैं ?”

“क्या होते हैं ?”

“मैं तो तुमसे पूछती हूँ ।”

“और मैं तुमसे पूछता हूँ ।”

“बताऊँ ?”

“हाँ, हाँ, कहो ।”

कवि रसिक होता है, कवि.....”

“अरे, अरे, इस रफ्तार से कवि को गालियाँ तो न दे बैठोगी ?
बेचारा कवि ! क्या बिगाड़ा है उसने तुम्हारा जो उसकी खाल खींचना
चाहती हो ?”

बलबीर और उसका शोख, नई दुलहन इस मज़ाक पर खूब हँसे ।

बलबीर अपने पिता के बहुत समझाने पर भी, कि उसे हर सूरत में बी. ए. की डिग्री ले लेनी चाहिए, पढ़ने में मन न लगाता और कविता लिखा करता । फिर क्या था ? वही हुआ जो होना था । बी. ए. की परीक्षा में फ़ेल हो गया । तबीयतसे बेफ़िक्र और लापरवाह । जानता था कि उसके लिए डिग्री फ़िज़ूल की चीज़ है । “कौन मुझे

इस डिग्री के बल पर डिप्टी कलेक्टर करनी है।” पिता ने अपनी शकर की तीन मिलों से लड़ाई के पिछले पाँच सालों में लाखों रुपये कमाये थे। लाला जीवनराम को इन ब्यालीस ज़िलों में कौन नहीं जानता ? पैसा ही नहीं नाम भी खूब कमाया था। पिछले साल तो लोगों में श्रामर्ता से चर्चा थी कि लालाजी को ‘रायबहादुर’ का खिताब मिलने जा रहा है। फिर न मालूम क्या बात हुई कि उनका नाम पदवी से घंचित रह गया। परन्तु अब कुछ दिनों से सरकारी कर्मचारियों में यह चर्चा फिर चल उठा है कि अबकी नये साल के अवसर पर उनके नाम को कलेक्टर ने एम. बी. ई. की उपाधि से विभूषित करने की मिफारिश की है और अबकी बार यह बात यकीनन होकर रहेगी। लाला जीवनराम के एक ही लड़का था। और वह भी बड़ा रमिक। कवि तो था ही, उसे ललित कलाओं से भी विशेष प्रेम था; और वह जीवन की मधुरता, कोमलता और सुन्दरता, इन तीनों को ही जीवन की परिभाषा मानता। अतएव, बलवीर प्रसाद ने जो दूध की कुलियाँ करते थे यह कभी न सोचा था कि जीवन एक जिम्मेदारी भी हो सकती है।

जब बी. ए. में फेल हो गया तो बलवीर बड़ा खुश हुआ। कवि होने का दावा करना और डिग्री से अपना पीछा न छुड़ा सकना, यह तो बड़ी भद्दी, हास्यास्पद चेष्टा है। इसी सिद्धान्त पर बलवीर चलता और ईश्वर की कृपा से उसकी मनोकामना पूरी भी हुई।

बलवीर के पिता की दृष्टि में जो महत्व बलवीर के डिग्री हासिल करने में था उससे कहीं बढ़कर महत्व उसकी बुद्धिमत्ता माता की राय में बलवीर के शादी करने में था। इसी कारण जब परीक्षा का नतीजा मालूम हो गया तो माँ का तकाज़ा बलवीर पर और भी ज़ोरों से बढ़ा। वह अक्सर कहती : “बलवीर, छोड़ कॉलेज के पचड़े को। क्या धरा

है इसमें ? तेरे बाबूजी कौन बी. ए. फी. ए. थे जो इन्ना रुपया और नाम कमाया। अरे यह तो अपने अपने भाग्य की बात है। कहीं कॉलेज की पढ़ाई से लोग राजा, रंक बना करते हैं ? छोड़ इन बातों को। बेटा, अब मेरी मान तू। शादी कर ले। मैं तेरे लिए ऐसी बहू ढूँढ कर लाऊँ कि तू भी कहेगा वाह ! माँ, क्या माता रंभा जैसी दुल्हन है। बोल, करेगा ना व्याह ?”

बलबीर के पास अब आगे का और क्या प्रोग्राम था। भस, कविता लिखना और जीवन के हर रंगीन पहलू से अपने मन को लुभाना, ललचाना और जब तबीयत में कुछ वैज्ञानिकी आती तो बैठकर कविता में उस दुस्वार का ‘ब्लू प्रिंट’ उतारता। यह क्या कम काम था लाला जीवनराम के रमिक पुत्र के लिए ?

माँ ने जल्द एक निहायत खूबसूरत, पढ़ी लिखी लड़की का पता लगा ही लिया। कानपुर के कृषि उन्नाव के रईस लाला बलभद्र की बड़ी लड़की सुभाषिणी, इसी साल कानपुर के गव्हर्नमेंट कॉलेज से इन्टर-साइन्स पास हुई थी। लड़की और आगे पढ़ना चाहती थी। पर पिता पुराने खयालात के आदमी थे। इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर सके। सुभाषिणी की माँ ने बलिक ज़ोर दिया था : “क्या हर्ज है, लड़की का दिल है तो पढ़ लेने दो उसे और एक दो साल ?” पिता ने, अभी अभी जो कॉलेज में एक वाक्या हुआ था सुन रखा था। कतई इनकार कर दिया। वे बोले : “तुम क्या जानो जी, आज कल ये लड़कियाँ कॉलेज में क्या क्या कर बैठती हैं ! मैं तो हरगिज़ उसे अब वहाँ न रहने दूँगा।”

भस, फ़ैसला सुना दिया गया था। अपील तो थी ही नहीं। चुनांचे सुभाषिणी की कॉलेज की पढ़ाई इन्टर के बाद बिलकुल खत्म हो गई। इस नवयौवना के गुणों की लम्बी फ़ेहरिस्त ने बलबीर के

मन पर काफ़ी असर किया। उसके हृदय में सुभाषिणी की अस्पष्ट रूपरेखा अपने आप खिच चली। अस्पष्टता का भी एक सुन्दर, मीर्दक गुण है। वह अपनी जगह बड़ी चतुराई से काम कर जाती है। अतएव बलबीर ने अपनी माँ से लाला बलभद्र की लड़की के नाम और गुणों को सुनकर, अपनी कवि-वृत्ति के कारण कहिए, या अपनी स्वाभाविक रसिकता से, बहुत सा अनुराग, भावनायें और कौतूहल अपने हृदय में भर लिया। यहाँ तक कि वह अब उस लड़की को बग़ैर देखे ही उससे शादी करने के लिए तैयार हो गया। एक रोज़ अपनी माँ से बोल उठा : “माँ, मैं दिसम्बर में कहीं सैर करने अपने दोस्तों के साथ जा रहा हूँ ! यदि शादी-वादी की बात है तो उसके पहिले ही निपट लो तो अच्छा है।” काफ़ी चालाकी से इशारा दिया गया था। माँ तो आज कल के लड़कों की मनोवृत्ति से भलीभाँति परिचित थी। वह समझ बैठी थी कि बलबीर लड़की बग़ैर देखे हों, ना कुछ न कहेगा। पर सुभाषिणी की चर्चा चलाने पर उसने तो उसे देखने की बात मुँह से निकाली ही नहीं। उसे आश्चर्य हुआ। पर वह यह भी जानती थी कि पिता की बात एक बार बलबीर भले ही टाल दे, पर माँ की बात वह कभी न टालेगा। अपने लड़के के शील स्वभाव पर आज उसके मन में काफ़ी प्रेम उमड़ आया। वह बोली :

“वे लोग तो एक पैर पर खड़े हैं। तू कह तो मैं अगले माह में ही शादी कर दूँ ?”

बलबीर के दिल में गुदगुदी-सी पैदा हुई। वह अपनी अँगूठी से खेलता हुआ बोला :

“मुझ से क्या पूछती हो—तुम्हें जो अच्छा लगे करो। मैंने कभी तुम्हें ना कहा है ?”

माँ मुस्कराई। चुटकी लेना चाही। माँ ने कहा :

“पर लड़की जो तू पहले देखना चाहेगा ?”

“शी ! मैं क्या देखूँगा । तुमने तो देखा है ना ?”

“अरे, मैंने तो देखा है । पर तेरे पसन्द न आवे तो ?”

“मुझे क्या परी चाहिए ? मुझे शकु मे नहीं स्वभाव मे मत-
लब है

“मैं खूब हँसी । बलबीर के गाल की फिर चुटकी लेता हुई बोली :

“सूरत, मीरत दोनों हैं इस लड़की में ! तू देखकर कहेगा : ‘क्या
अप्सरा जैसी दुल्हन है !’ ”

बलबीर की शादी उस चर्चा के दो माह बाद ही बड़ी धूम धाम
से हो गई । संयोग से, बलबीर की नई बीबी बलबीर जैसे ही कला-
प्रेमी थी । उसके भी स्वभाव में भावनाओं की प्रबलता थी । बलबीर
पर तो वह आते ही छा गई । वह भी जीवन को कला मानती थी ।
परन्तु कभी कभी दाम्पत्य जीवन में स्वभाव तथा रुचि की समानता
ही दुःख का कारण बन बैठती है ।

बलबीर की भावुकता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी । कई क्षेत्रों में,
कई दिशाओं में इसके विचार बहुत ही असाधारण तथा अनोखे थे ।
बलबीर को शंका भी न थी कि उसके विचारों में कुछ अस्वाभाविकता
है, उनमें असत्य का अंश अधिक है । यह उसकी शिक्षा का दोष न
था । यह उसकी मनोवृत्ति का विशेष विकार था ।

बलबीर ने अपनी कुछ धारणायें बना ली थीं । इन धारणाओं में
एक यह भी थी कि स्त्री-पुरुष संभोग कवि के आदर्श का घातक है,
अभिशाप है । इस घृणित व्यवहार से कवि के धर्म की हानि होती है,
तथा उसका सच्ची, सुन्दर भावुकता पर वह तुषार का काम करता है ।
वह वासना-युक्त प्रेम में विश्वास न करता था । उसका विश्वास था

सिर्फ आध्यात्मिक प्रेम में—वह कहता स्त्री और पुरुष में वासना रहित प्रेम होना असम्भव नहीं है। इस विचित्र आदर्श को बलबीर की मानसिक 'idiosyncrasy' ही कह सकते हैं। पर किसी भी नाम से यह पुकारी जाय इस चीज़ ने उसके जीवन में वही काम किया जो एक चिनगारी बाँस के बन में करती है।

सुहाग रात को जब सुभाषिणी बलबीर के कमरे में दाखिल हुई तो बलबीर ने उसे अपने आलिंगन-पाश में कस लिया। कवि का सामराज्य फैला। दुलहन ने अपना सारा उत्साह और उमंग एकत्रित कर एक अनिर्वचनीय आत्म-तुष्टि का अनुभव किया। सुभाषिणी बहुत खुश थी। उसके दिल में हज़ारों उमंगें और लाखों वलवले थे। स्त्री अपने भावों को प्रकट नहीं करती। नारी हृदय का रहस्य कितना अज्ञेय है, कितना अमीमांसिक ! इसी से मनुष्य में उसके प्रति सदा कौतूहल रहता है। और इसी कौतूहल को लोग जीवन का रहस्य मानते हैं। बलबीर बहुत खुश था। प्रेम की परिभाषा उसकी अपनी परिभाषा थी। और उस परिभाषानुसार प्रेम का सम्बन्ध संभोग से कदापि न था।

रात गुज़र गई। बलबीर कवि था। कवि अपनी काल्पनिक सृष्टि को रचता, उसमें बसता, उसे मिटाता और उसके साथ आप मिटता। इस उधेड़-बुन में बलबीर ने उस रात सुभाषिणी को अपनी गोद में बिठाकर उसे न मालूम क्या क्या कह डाला। कवि का स्वप्न हो गई थी। सुभाषिणी का हृदय छलक रहा था—प्रेम से, वह हँसती और बड़ी चतुराई से अपने भावुक पति की ओर देख कर समझ लेती कि कविता ने आज बड़ी ठिठाई की है। प्रेम के सच्चे हकों को वह बर-बस छीन लेना चाहती है।

बड़ी ही मीठी रात थी वह। कवि का प्याला छलक रहा था। वह सुख को भीतर ही भीतर अनुभव करता। सुभाषिणी ने उसे

अपना पति बनाकर रंक से राव बना दिया था। माँ ने कहा था सुभाषिणी बड़ी सुन्दर है, मिठबोली है, इत्यादि। पर वह निकली निहायत खूबसूरत और 'मनमोहनी'। बलबीर तो उस पर कुर्बान हो गया।

पर सुभाषिणी कविता को न समझ पाई। वह समझती भी कैसे? वह तो केवल 'प्रेम' जानती थी। वह प्रेम की उपासिका थी। जब दिन निकल आया तो वह कमरे से बाहर आई और मन ही मन खूब हँसी। पर उसके हृदय में दर्द था, टीस थी, एक कसक थी। 'कविता जरूर एक अजीब चीज़ है,' वह सोचती, 'वरना.....'

एक माह गुज़र गया। दो माह गुज़र गए। माह पर माह गुज़रने लगे। कविता ने प्रेम को विजयी न होने दिया। बलबीर भावुकता की दलदल में पड़ कर अपना पुरुषत्व खो बैठा था। सुभाषिणी को अब शंका होने लगी : कविता का साम्राज्य है या नपुंसकता का?

पर अभी वह निश्चित रूप से किसी अनुमान पर न पहुँच पाई थी। वह अपने अन्तःस्थल की वेदना को छिपाये हुए शोध में तत्पर रहती। और हर रात जब वह बलबीर के शयनागार में उसके साथ अकेली होती तो उसकी आँखें कवि के भीतर प्रवेश करने का निष्फल प्रयत्न करतीं। कवि अपनी भावुकता के प्रवाह में बहता जाता; और, मूर्खतावश, वह अपने साथ अपनी हसरत भरी नई स्त्री को भी बहाता।

शादी को अभी करीब एक साल ही हुआ था कि एक रोज़ सुभाषिणी ने अकेले में अपने पति से पूछा :

“क्यों जी तुम कब तक गुमराह रहोगे?”

बलबीर चौंक गया : क्या पूछ रही है उसकी स्त्री आज उससे ! ख़्वाब देख रहा था—फ़ट बोल उठा :

‘इसी में तो लुप्त ।’

सुभाषिणी ने देखा वह बहकी बहकी बातें कर रहा है। क्या वह उसका उपहास तो नहीं कर रहा है? थोड़ी देर गुप रही। फिर उसने व्यंग्य कहा :

“तुम तो कवि जैसी बातें करते हो।”

“तो मैं जो हूँ कवि।”

सुभाषिणी ने देखा यह सब व्यर्थ है; हँस पड़ी। बात काट कर बोली :

“कविता और कवि, कैसे सुन्दर विषय हैं दोनों !”

बलबीर की मूर्खता ने सुभाषिणी के विचारों में खलबली मचा दी। वह अपने को संभालने की क्षमता खो बैठी। उसके हृदय में प्रतिकार तथा घृणा के भावों ने घर बना लिया। कवि कविता में ही मग्न रहा।

दिवाली करीब थी। लाला जीवनराम के यहाँ दिवाली का उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जाता था। सुभाषिणी, जो इसी अवसर पर कुछ करना चाहती थी, उपक्रम सोचने लगी।

एक दिन, मौका पाकर वह बलबीर से बोली :

“क्यों जी तुम तो कवि हो ना ?”

“तुम्हारा क्या खयाल है ?” बलबीर ने पूछा। वह जानता था कि बाद के क्या ‘डायलॉग’ होंगे। यही तो एक खासा मधाक इन दोनों के बीच हमेशा रहता।

“तुम सिर्फ कवि ही नहीं हो,” वह बोली।

बलबीर सहसा तन बैठा।

“ऊँ ! सिर्फ कवि नहीं—और क्या हूँ ?”

“तुम.....” सुभाषिणी रुक गई। उसके मुँह से वह शब्द न निकल सका।

बलबीर हैरत में डूब गया। क्या कहना चाहती थी वह ? क्यों चुप हो गई ?

“कहो—कहो। मैं और क्या हूँ ?”

“क्या फायदा कहने से ?”

“लेकिन तुम कहना तो चाहती थीं।”

“कह दूँगी किसी दिन।”

दिन गुज़रने लगे। कवि और कवि की स्त्री आपस में हँसते हँसाते, पर वे दोनों बहुत तेज़ा के साथ एक दूसरे से पृथक बहे जा रहे थे—बलबीर कविता के प्रवाह में और उसकी स्त्री प्रतिरोध की धारा में। सुभाषिणी का जीना मुहाल हो गया। कवि को कल्पना तक न थी कि क्या होने जा रहा है।

बलबीर के निर्मम व्यवहार में उसे एक अन्तः प्रेरणा मिली। वह तकदीर को तदबीर से पलट देगी। वह सतर्क थी।

दीवाली में लक्ष्मी पूजा के दिन सुभाषिणी अचानक घर से निकल कर सफ़दर ख़ान के लड़के अज़ीज़ अनवर से उसके घर निकाह कर रही थी। सफ़दर ख़ान इसी ज़िले में तहसीलदार थे। दोनों अज़ीज़ और सुभाषिणी गवर्नमेन्ट कॉलेज कानपूर में साथ साथ पढ़ते थे। अज़ीज़-अनवर अभी दीवाली की छुट्टी में अपने घर आया हुआ था।

बलबीर अपने कमरे में कुछ देर बाद जब सुभाषिणी को ढूँढ़ने गया तो टेबल पर उसे एक ख़त पड़ा मिला। उसमें लिखा था :

“प्रिय कवि,

“तुम कवि ज़रूर हो। लेकिन अपनी पत्नी के पति नहीं हो सकते। मेरा मतलब है कि आप शायरी छोड़ दें और किसी नामी डॉक्टर या हकीम से अपना इलाज करायें।

“मैं आज अज़ीज़ अनवर की बीबी बनने जा रही हूँ। तुम तो

अज़ीज़ को जानते हो । खुदा हॉफ़िज़ । मेरा नाम अब सुभाषिणी न होकर
(सुभाषिणी तो मर चुकी) रहेगा—

“अस्मत्”

भाभी

वीरेन्द्र आजकल कुछ अजीब परेशान-सा रहता। किसी बात में उसका मन न लगता। कॉलेज छोड़े आज तीन माह होगए। अब आगे क्या करूँ—इसी विचार में वह डूबा रहता। बड़े भाई का उस पर विशेष दुलार है। वह उसे बच्चे की तरह प्यार करते हैं; यह वीरेन्द्र अच्छी तरह जानता था। पिता के मरने के बाद बड़े भाई ने ही उसे छोटे से बढ़ा किया और बी० ए० तक पढ़ाया था। वीरेन्द्र पहले पहले तो खूब चमका और उसने मैट्रिक फ़र्स्ट डिस्टिन्क्शन में पास किया; फिर इन्टर की परीक्षा में तो वह युनिवर्सिटी में पहला आया था, परन्तु जब वह बी० ए० में पहुँचा तो उसके मन ने एकदम उचाट खाया और उसकी रुचि कॉलेज की पढ़ाई से बिल्कुल हट गई।

बड़े भाई अपनी लियाकत, मिहनत और 'टैक्ट' से बढ़ते चले गए। और आज बारह साल की सर्गिहस में ही डिप्युटी सुपरिन्टेन्डेन्ट बन कर कानपुर में तैनात हुए हैं। थी तो कहने को पुलिस की नौकरी; फिर भी लोगों से हिलमिल कर रहना, और इन्साफ़ से उनके साथ व्यवहार करना यह उनकी एक मुश्किल थी। लेकिन जगमोहनलाल की क्लिस्मत में सब सुख ही सुख नहीं लिखा था। ईश्वर ने उन्हें पैसा दिया था और इज्जत भी; परन्तु अपने जीवन में उन्हें दुख भी बहुत उठाना पड़ा।

उनकी पहली बीबी तपेदिक का शिकार बनी और आठ माह बाद ही अपने पति को बगैर संतान के छोड़ गई। स्त्री के मर जाने का जगमोहनलाल को बहुत सदमा हुआ, और साल भर तो वह यही

निश्चय किये बैठे रहे कि अब वह दूसरी शादी ही न करेंगे। रिश्तेदारों ने और मित्रों ने बहुत समझाया बुझाया पर वे किसी की न माने और अपने संकल्प पर दृढ़ रहे।

मनुष्य संकल्प तो कर लेता है, पर उस संकल्प को निभाने वाले बहुत कम होते हैं : और जब इन्सान सरकारी नौकरी में किसी अफसर के ओहदे पर पहुँच जाय फिर तो बगैर बीबी के उम्र काटने का खयाल उसे बिलकुल फ़िज़ूल-सा जान पड़ने लगता है। यही हाल हमारे जगमोहनलाल का हुआ। एक रोज़, न मालूम क्या हुआ, उनको फिर से नई जोरू लाने की सूझी; और इस सूझ की दाद अपने चंद दोस्तों से पाकर उनकी बेताबी ज़ोर पकड़ने लगी।

फिर क्या था—किस डिप्युटी सुपरिन्टेन्डेन्ट के साथ, चाहे वह बूढ़ा हो या जवान, खूबसूरत हो या बदसूरत, नेक हो या बदचलन, लोग अपनी बेटी की शादी करने को तैयार नहीं होते ? जगमोहनलाल पिछले बड़े दिन की छुट्टियों में जाकर कहीं से एक निहायत हसीन बीबी ले ही आये। वीरेन्द्र से बोले : “देख रे मैं तेरे लिए कैसी भाभी लाया हूँ। अब तो होटलों में जाकर पूढ़ियाँ नहीं खायेगा ? ये तुझे तेरी पहली भाभी की तरह ही प्यार करेंगी।”

वीरेन्द्र अपने भाई को खूब जानता था। लेकिन आज उसे ऐसा जान पड़ा कि वह किसी अपरिचित व्यक्ति के आगे खड़ा हुआ उसकी भीतरी गहराई में प्रवेश करने की व्यर्थ चेष्टा कर रहा है। सुनी बात को अनसुनी करके बोला : “भैया, ये किस बिरादरी की हैं ? इनके पिता कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं ?”

जगमोहन हँस पड़े; बोले : “क्यों ? अपने बाप की बेटी हैं—तुझे इससे क्या ? हैं तो अच्छी ना ?”

वीरेन्द्र सिटपिटा कर रह गया। अच्छी ? वाह, यह भी क्या पूछने

की बात थी ? बहुत अच्छी । कमलेश्वरी से अच्छी बीबी कब किस डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट को नसीब हुई ? थोड़ी देर चुप रह कर कुछ हिम्मत बाँध, वह फिर पृष्ठ बैठा : “कहो न, भैया, किनकी लड़की हैं ये ?”

“लाला हरकिसनलाल की—वो मथुरा वाले जो पिछले साल अपने यहाँ आकर एक दिन टिके थे; और जिन्होंने तुझे जाते वक्त अपनी पारकर पेन प्रेजेंट की थी ।”

“अच्छा, वो हरकिसनलाल जी, जिनकी इलाहाबाद, मिरजापुर, हाथरस वगैरह में बेजीटैबल बी की मिलें चल रही हैं ?”

“हाँ, हाँ, वही ।”

“तो, भैया, यह कैसे ? वो तो शायद कायस्थ हैं ना ? और हम आस्था”

“बड़ा ही बुद्धि रहा रे, वीरेन्द्र ! तू आज भी ज्ञात-पॉत का झगड़ा लिए फिरता है ? भारत इसी में ग़ारत हो गया ।”

वीरेन्द्र चुप हो रहा । वह कुछ सोच में पड़ गया ।

जगमोहन वहाँ से जल्द दूसरे कमरे में जाकर शोध करने बैठ गए ।

दिन गुज़रने लगे । परंतु वीरेन्द्र अभी तक आगे का कोई प्रोग्राम निश्चित न कर पाया । उसके भैया तो उसे यही सलाह देते हैं कि वह पुलिस-ट्रेनिंग के लिए चला जाए, परंतु वीरेन्द्र को पुलिस की मौकरी करना बिल्कुल पसंद न था । वह कहता : “नहीं, नहीं, मैं पुलिस में न जाऊँगा ।”

इधर जगमोहन अपनी पहली बीबी को जल्द भूल चले । जब से लाला हरकिसनलाल की खूबसूरत लड़की उनकी बीबी बनकर इस घर में आई तबसे जगमोहनलाल की ज़िंदगी में फिर एक नई बहार आई ।

वीरेन्द्र को अङ्गरेज़ी कहानी, कविता से बड़ा प्रेम था; वह तो सदा

किताबों से ही घिरा रहता। उसका चित्त कभी पढ़ने-लिखने से उचाट नहीं ग्वाता। हिंदी के लेखकों को वह बड़ी हिकारत की नज़र से देखता। अपने दोस्तों से हमेशा यही बहस करता कि हिंदी बहुत पिछड़ी हुई है। इसमें न सच्चा साहित्य है न सच्ची कला। झूठी बकवास है। अङ्गरेज़ी उपन्यास और कविता की प्रशंसा करता और अक्सर आवेश में आकर कह बैठता : “अभी यहाँ के सियारों को शेर बनने में एक हजार बरस लगेंगे।” वीरेन्द्र के दोस्तों में से पचास फ़ी सदी, इस मज़ाक को लाजवाब दलील समझ कर, हार मान जाते; और बाकी पचास फ़ी सदी उसे, माकूल जवाब देने में अपने को असमर्थ पाकर, कुछ बे-सर-पैर की सुना बैठते।

दर्शन शास्त्र कहता है कि विश्व बहुत बड़ा है : और इस विश्व में बहुत-सी छोटी-छोटी दुनिया हैं। इस कहानी की दुनिया तो वास्तव में एक दुनिया ही है जिसमें तीन प्राणी, सारे विश्व से पृथक होकर, अपने दायरे से परिकेष्टित, जगमोहनलाल के छोटे-से घर में अपना अस्तित्व जमाये हुए हैं।

जगमोहनलाल बड़े बुद्धिमान, दयालु तथा सहृदय मनुष्य थे। साहित्य से सर्वथा अपरिचित; किंतु जीवन और मनुष्य-स्वभाव से भली भाँति परिचित। उनमें विवेक था, प्रेम था; और वे जीवन को बहुत ‘सीरियस’ कभी न लेते थे। यही उनके जीवन की सफलता और सुख का रहस्य था।

कविता और क्रिस्सों के लिए वीरेन्द्र की रुचि बढ़ती ही चली गई। कुछ दिनों से वह अपने भीतर एक प्रेरणा पाता। वह प्रेरणा कहती : “लिखो, तुम भी कुछ लिखो। ग़िहिक बाम जैसा नहीं तो समरसेट मोहेम जैसा ही सही।” वीरेन्द्र एक दिन दोपहर के समय कागज़ कलम लेकर लिखने बैठ ही तो गया। ख़ूब सोचा, ख़ूब कलम चबाई,

पर वह कुछ न लिख सका—न शेरों की तरह, न सियारों के जैसे ही। बहुत शर्मिदा होकर उसने कज़म दूर फेंक दी; और, बिखरी किताबों के ढेर को दीवार से लगा, वह उठ खड़ा हुआ। सहसा कमरे के दरवाज़े पर नज़र पड़ी। ‘भाभी जान’ खड़ी थी। भाभी को तो आज कई दिनों से वीरेन्द्र रोज़ ही देखता चला आया है। लेकिन आज उसे देखकर वह दंग रह गया। उसके दिल की रफ़्तार में तेज़ी आ गई; हाथों में कुछ ममी और होंठों पर कुछ खुशकी। भाभी इस अद्भुत से खड़ी थी कि मानो वीरेन्द्र के लिए साहित्यिक इन्स्पिरेशन की मूर्ति वहाँ उसी की सेवा में साक्षात् खड़ी हो! भाभी की उम्र बीस, बाईस साल की होगी। जवानी में स्त्री को हसोन कहना मीठा एक लफ़्ज़ का दो मतवा इस्तेमाल करना है। अभी तक तो वीरेन्द्र को उसकी भाभी ‘लाला’ कह कर पुकारा करती और वह उसे भाभी कहता। पर आज जग-मोहनलाल की नवविवाहिता ने अपने देवर को “प्यारे लाला” कहकर सम्बोधित किया; और, अचानक, कावता लिखने का निष्फल प्रयत्न करने वाले वीरेन्द्र के मुँह से जवाब में “प्यारी भाभी” निकल पड़ा।

तागे से बँधी जैसे कठपुतलियाँ नचाई जाती हैं, ये देवर-भाभी भी, किसी अदृश्य डोर से बँधे, एक दूसरे की ओर खिंच चले; और कमरे के बीच, एक सोफ़े के पास आकर दोनों खड़े होगए।

भाभी : “कुहो लाला, आज क्या लिख रहे थे ?”

वीरेन्द्र : “कुछ नहीं, यों ही दिल बहला रहा था।”

भाभी : “यों दिल बहलाते हो ?”

वीरेन्द्र (शर्मा कर) : “कुछ लिख पढ़ कर।”

भाभी (हँस कर) : “बड़े भोले हो। लिखने-पढ़ने से कहीं दिल बहलता है ?”

वीरेन्द्र : “तो कैसे बहलाऊँ ?”

भाभी ने वीरेन्द्र का हाथ पकड़ कर उसे सोफे पर बरबस बिठाया, और वह खुद उसके पास बैठ उसके गले में हाथ डाल कर बोली : “ऐसे।”

वीरेन्द्र सिटपिटा गया, घबराई हुई आवाज़ में बोला :

“भाभी यह क्या, मुझे छोड़ो। भैया आजाएंगे तो.....”

“तो क्या होगा ? बच्चों जैसी बातें न करो, लाला; तुम्हारे भैया की मैं कौन हूँ ?”

“कौन हूँ ? तुम उनकी पत्नी हो : वे तुम्हारे पति हैं।

“बूढ़े पति की जवान स्त्री ?”

“मैं क्या जानूँ—अपने पिता से पूछा होता।”

भाभी ने सहसा वीरेन्द्र का मुँह चूम लिया और वह बोली :

“अजी रहने भी दो ये बातें, मेरे प्यारे लाला; आश्रो मेरी बाँह में। मैं तो तुम्हारे ही लिए इस घर में आई हूँ; तुम्हारे भैया बड़े बुद्धू हैं, वे क्या जानें औरत का दिल ?”

“छिः छिः ऐसी गंदी बातें न करो, भाभी। वे मेरे पिता जैसे हैं।”

“हाँ, हाँ, पर मैं तो तुम्हारी माँ नहीं हूँ ?”

“पिता की स्त्री कौन होती है ? क्या आप होश में बात कर रही हैं ?”

“बूढ़े पिता की जवान स्त्री अपने बाँके, रंगीले देवर की.....”

जगमोहनलाल ने कमरे में प्रवेश किया। सदा, हँस-मुख, वह आज भी हँस रहे थे। अपनी स्त्री के पास जाकर बोले : “मैं जानता हूँ औरत का दिल, कमल। तुम्हें मैं न सही, पर देवर तो खूब जँचा। यही सही—क्या हर्ज है ?”

वीरेन्द्र कुछ बोलना चाहता था। जगमोहन ने उसकी पीठ ठोकते हुए कहा : “कहो कैसी भाभी लाया तुम्हारे लिए ?”

जगमोहनलाल की स्त्री बड़ी अदा से उठी और पास वाले ड्रेसिंग

देवुल के आइने के सामने जा अपनी शक्ल शीशे में देखती हुई बोली :

“Jagmohan, we underst and each other. You are not such a fool after all.”

(हम एक दूसरे को समझते हैं, आखिर तुम इतने बुद्धू तो नहीं हो ।)

वीरेन्द्र दूसरे कमरे में चोर की तरह खिसक गया । जगमोहनलाल सिगरेट सुलगाते हुए हँस पड़े :

“I am damned in a fair wife.” (मैं एक खूबसूरत औरत की वजह तबाह हूँ ।)

सफ़र

मैं हावड़ा से ब्रिहकटोरिया टरमिनस के लिए जब मेल में, जो कि नागपुर से होती हुई बम्बई जाती है, सवार हुआ तो मेरे साथ ज़रूरत से इयादा सामान था। याने बैडिंग तो था ही, पर एक ट्रंक, एक अटैची, टिक्रिन कैरियर, एक लीचियों की पिटारी, और किताबों से भरा एक बक्स भी था। माह एप्रिल का था, इस कारण पानी की खुराही तो साथ थी ही। मेरे पास इन्टर का टिकिट था। लेकिन जब प्लेटफ़ार्म पर पहुँचा तो देखता क्या हूँ कि ट्रेन भर में कुल दो इन्टर के डिब्बे, और उनमें से भी एक तो औरतों के लिए रिज़र्व था, दूसरा, जिसमें मर्द बैठ सकते थे, वह भी बहुत छोटा, और उसमें, पहिले से ही काफ़ी लोग घुस, अपना बिस्तर लगाकर, अपना अपना आधिपत्य जमाये हुए हैं। मैं इस डिब्बे में घुसते हुए ज़रा हिचकिचाया। काफ़ी भीड़ थी; और उस भीड़ की, आगे चलकर, बढ़ने की ही सम्भावना थी। ट्रेन छूटने में अब भी पूरे पैंतालीस मिनिट थे। दिल चाहा कि जाकर टिकिट सेकन्ड क्लास के लिए बदलवा लूँ। पर फिर ज़रा क्लिफ़ायत की तरफ़ ख़याल गया। मैं कलकत्ते में काफ़ी ख़पया फूँक चुका था। करीब करीब ढाई-तीन सौ रुपये की तो हिन्दी, अङ्गरेज़ी पुतकें ही ख़रीद ली थीं। बीस रुपये रोज़ होटल का किराया देना पड़ता था। और टैक्सी, रिक्शा मिलाकर बीस रोज़ में न दिए होंगे तो सौ-सवासौ रुपये तो ज़रूर ही दिए होंगे। कुछ थोड़ी-सी चीज़ें अपनी बहन के लिए ख़रीदी थीं। मेरा इन दिनों का सिगरेट का ख़र्च भी ख़य मिलाकर पचास रुपये से कम न निकलेगा। इस तरह करीब हज़ार

रुपये की चोट आ गई थी। अब तो पास में बस घर वापस पहुँचने की टिकिट कटाने के ही लायक पैसा था। चाहे इंदर में चले या सेकण्ड में। ज़रा दिल झुका ही था कि 'सूभी' 'नहीं, चलो बचा लें कुछ पैसे, न मालूम सफ़र में कब क्या ज़रूरत पड़ जाय।' हरादा टिकिट बदलने का छोड़ दिया और कुली से कहा : "भई रखो इसी में—क्या किया जाय?" सामान रख अपना पैसा ले कुली लोग चल दिये। मेरा सामान अभी पैसेज में ही रखा था—इस उम्मीद में की आगे चलकर जैमी गुम्जाइश होगी तरीक़ से लगा लिया जायगा। मैं अपनी जेब से सिगरेट निकाल, उसे सुलगा, प्लेट फ़ार्म पर धूमता हुआ कश ले ही रहा था कि देखता क्या हूँ—आगे मेरे मित्र सैलेश बाबू बड़ी तेज़ी से चले आ रहे हैं। मैंने उन्हें ज़रा दूर से देखा था तो भी शक़ल पहिचान गया। परन्तु फिर थोड़ी देर में लगा जैसे वह सैलेश नहीं हो सकता। कलकत्ते में वह इस समय कहाँ? वह तो बम्बई में ही कस्टम्स ऑफ़िस में अपनी ड्यूटी कर रहा होगा। ग़लत। सैलेश ही निकला। दूर से ही देख वह भी मुझे पहिचान गया—हँसते हुए आवाज़ दी : "हलो, रजनी कान्त, तुम यहाँ कहाँ, भई?" मैंने आगे बढ़ हाथ मिलाते हुए कहा : "यों ही आया था ज़रा तफ़रीह के लिए; अब चला हूँ वापस घर इस ट्रेन से। और तुम यहाँ कैसे, सैलेश बाबू?" जब तक कि वह सम्बलता और मेरे प्रश्न का उत्तर देता, एक स्त्री, पैर में आल्टा लगा हुआ फिर भी पैर सैंडल में, बड़े सोफ़ियाने तरीक़े से कपड़े पहने हुए, नाखून और होंठों पर रंग, हाथ में सोने की चूड़ियाँ और रिस्टवॉच्, कानों में बड़े बड़े बाले, दोनों हाथों की अँगुलियों में नगीनेदार अँगूठियाँ—ऐसे सजधज कर आ, बेभिसक सैलेश बाबू के बाजू खड़ी हो गई, और सामान का ठेला भी आकर उसके पीछे रुक गया। मैं देखकर कुछ अचरज में पड़ गया। सैलेश ताड़ गया। खूब

ज़ोरों से वह हँस पड़ा : “अरे क्या धूरते हो ?” वह कह रहा था । “यह तो मेरी नई बीबी है—मिसेज़ प्रतिमा बसु । अभी शादी करके बम्बई ले जा रहा हूँ । हमेशा जो कहते थे ‘गेट मैरिड, गेट मैरिड;’ लो, अब तो खुश होना ?” मैं होश में आ रहा था । जली हुई सिगरेट को प्लेटफार्म के नीचे फेंक, जेब से रुमाल निकाल, अपने बाँये हाथ से चेहरा पोंछते हुए और दाहिने को सैलेश की बीबी की तरफ़ बढ़ाते हुए बोला : “मुबारक मैं आपसे मिलकर बहुत खुश हुआ ।” सैलेश की स्त्री ने हँसकर जवाब दिया : “सो एम आई । थैंक्स ।”

अब तो ट्रेन छूटने में पन्द्रह मिनट ही रह गये थे, मैंने सैलेश की तरफ़ इशारा करते हुए कहा : “अरे भई बैठने का तो इन्तज़ाम करो, सामान-वामान तो रखवाओ ।” सैलेश ज़रा इत्मीनान से बोला : “नो वरी, आई एम बुकड सेकन्ड क्लास । पर, यार, मेरा एक दोस्त आने वाला था । अभी तक लापता है । कहता तो था कि ट्रेन टाइम पर स्टेशन ज़रूर पहुँच जाएगा । उसका बेडिंग भी बल्कि मेरे ही साथ है । अजीब आदमी है, अब तक पता नहीं ।” मैं कुछ सोच रहा था—एक ख़ामी स्कीम । ज़रा देर में ही मैंने संभल कर पूछा : “और वह न आए तो ?” “तो क्या ? तुम मेरे साथ सेकन्ड में चलना । लेकिन तुम तो किसी सेकन्ड क्लास में ही बैठे होगे ?”

मैंने अग्रना किस्सा सुनाया । सैलेश झुनकर बोला : “अरे, यार, चलो मेरे साथ । निकालो अपना सामान इंटर से । वह गधा अब नहीं आयेगा ।”

मेरी भी स्कीम यही थी । सामान एक सेकन्ड क्लास में रखा गया । और हम तीनों एक ही डिब्बे में सवार हुए । गाड़ी एक ज़ोर की सीटी देकर चल पड़ी ।

सैलेश चन्द्र बसु को मैं बहुत दिनों से जानता हूँ । हम लोग सेंट

जेवियर्स कॉलेज में बी० ए० साथ पढ़े हैं। वह डिग्री लेकर कस्टम्स में चला गया। मैंने सिनेमा की एक अङ्गरेज़ी मैगज़ीन निकाली। सैलेश तीन साल में ही अपने महकमे में खूब चमका। आज उसे पांच सौ रुपये माहवार मिलता है। और मेरी मैगज़ीन भी कुछ रोज़ ढीली चलकर अब मुझे हजार-बारह सौ महीना देने लगी है। पहिले पहल तो मैं नया था। सिने एडिटर के दुनर से नावाकिफ़। ईमानदारी से बातें लिखता। सच्ची ख़बरें छापता, और सच्चे रिव्यूज़, भूखों मरने की नौबत आ गई थी : फिर आहिस्ता आहिस्ता यार लोगों ने मुझे कुछ पैसे कमाने के ढङ्ग सिखाए। मैं उन लोगों की सुझाई हुई तरकीबों को दिल खोलकर अमल में लाने लगा। यानी मैंने क़लम कुछ तेज़ की और ख़बरों को लच्छेदार बनाना सीखा। हर ख़बर को नमक मिर्च लगाकर उसे मज़ेदार बनाया और फिर छपा; और रिव्यूज़ तो अस-लियत से कोई वास्ता न रखते। जो पैसा देता उसकी तारीफ़, जो न देता उसकी छोछालेदर। इस तरीक़े से आज तीन साल के अन्दर मेरी मैगज़ीन हजार-बारह सौ देने लगी है। पत्रकार बनने के पहिले इस धन्धे के मूल मन्त्र को सीखना चाहिए। वरना भारतवर्ष में पत्रकार बनना भीख माँगने जैसा ही है।

अभी हम लोग कलकत्ते से सौ मील भी दूर नहीं निकल पाए थे कि सैलेश की बाबी मुझ से खुल पड़ी। वैसे फ़िक्क तो उसमें शुरू से ही न थी—पर रेल के छोटे से डिब्बे में लोग पास पास बैठ कर वास्तव में एक दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं।

सैलेश ने तो गाड़ी छूटते ही जो बातों की ऋढ़ लगाई तो ऐसा जान पड़ता था कि इस रफ़्तार से वह बहुत देर न टिक सकेगा। ऐसा ही हुआ; पांच छः स्टेशन न गुज़रने पाये थे कि उसने अपने विषयों का तमाम खज़ाना ख़त्म कर दिया—कैबिनेट मिशन, कांग्रेस पॉलि-

टिक्स, मुस्लिम लीग की चालें, लेफ्टिस्ट मूव्ह, नये हिन्दी, अङ्गरेज़ी पिक्चर्स, कलकत्ते की गंदगी, मौसम, इत्यादि, इत्यादि। मैं सुन रहा था बड़ी दिलचस्पी के साथ। सैलेश कभी आवेश में आ बड़े सुंदर अङ्गरेज़ी के वाक्यों में दलील करता। मैं अक्सर हिन्दी में ही जवाब देता। प्रतिमा देवी बड़े चाव से अपने पति की बातें सुन रही थी। सिक्रे एक मरतबा, एक जगह उसने 'फ़ाइन !' कहकर अपने पति के किसी ख़ाम दृष्टिकोण की दाद दी थी। साफ़ साफ़ तो याद नहीं आता कि बात क्या थी लेकिन मैं सोचता हूँ मौक़ा वह था जब कि सैलेश ने आवेश में आकर यह कहा था : "हसब्रेन्ड्स वोन्ट देयर राइट्स, बट् चाइव्ज़ मस्ट हेव देयर्स, टू।" मैं भी गोल उठा था : "क्यों नहीं ? ज़रूर, ज़रूर।" और एक सेकन्ड के लिए प्रतिमा देवी की और मेरी आँखें आपस में मिलीं।

अचानक सैलेश बोल उठा : "अब तो हम सोते हैं यार, थोड़ी देर। बड़ी थकावट मालूम होती है। तुम लोग बातें करो, या मेरी अटैची से ताश निकाल कर खेलो। क्यों, प्रतिमा से शरमाते तो नहीं ?" सैलेश अपने मज़ाक पर खुद हँसा। ऊपर की बर्थ पर जा लेट रहा और मुँह को रुमाल से ढँक कर सोने की कोशिश करने लगा।

मैं स्त्रियों के बीच ज़रूर कुछ शरमाता हूँ। यह मेरी पुरानी आदत है। मैं अब भी ज़रा परेशान-सा था। प्रतिमा ने बड़े मौक़े पर मेरी सहायता की। बोली : "रजनी बाबू आप ताश खेलेंगे ?" मैं कुछ असमंजस में पड़ गया। हाँ-नहीं कुछ भी, इकदम मेरी ज़बान से न निकला। ऊपर से आवाज़ आई : "डोन्ट बी सिली, रजनी। प्ले कार्ड्स विथ हर; गो ऑन।" प्रतिमा देवी हँस पड़ीं। ऊपर की बर्थ को सुनाकर बोलीं : "हाउ इज़ इट, सैलेश, ऑल युअर फ़्रेंड्स आर शाय ?" ऊपर की बर्थ से ख़र्राटों की आवाज़ आने लगी। मैं और भी

परेशान हो गया। अब तो हम दो ही इस डिब्बे में रह गए जो तेज़ी से आगे बढ़े चले जा रहे थे। प्रतिमा ने अटैची खोलकर ताश का एक पैक निकाला ही तो और मुझ से पूछा : “आप क्या खेलेंगे ?” मुझे ताश से सख्त नफ़रत है। मैंने अपनी नफ़रत छिपानी चाही। बोला : “मुझे इस खेल से दिलचस्पी नहीं।” प्रतिमा कुछ मुस्कुराई, बोली : “मैं जानती हूँ। कई लोग ताश से नफ़रत करते हैं, तो फिर आखिर वक्त कैसे कटे ? मन बहलाव के लिए कुछ तो करना पड़ेगा। अभी तो (अपनी रिस्टवाँच की तरफ़ देखते हुए) आठ भी नहीं बजे। मैं तो थ्यारह, बारह बजे से पहले सोती ही नहीं।” प्रतिमा ने ताश फिर अटैची में रख दिया, और होल्डाल के स्ट्रेप में खुँची हुई अङ्गरेज़ी मैगज़ीनों में से एक निकाल कर मुझे देती हुई बोली : “आप इसे पढ़िए थोड़ी देर। समय हुआ जाता है, सपर लेंगे हम लोग। तब तक वो भी ज़रा सो लें।” मैं मैगज़ीन ले उसके पन्ने उलट पलट कर तसवीरें देख रहा था, और कभी कभी चोरी से प्रतिमा की तरफ़ देख लेता कि वह क्या कर रही है। उसने एक रेशम की थैली से अपना निर्टिंग वर्क निकाला और भिड़ गई वह अपनी सुइयाँ चलाने। हम लोग आमने सामने बैठे हुए थे। वह थी खिड़की के पास और मैं दूसरी बर्थ पर उसी के सामने। चल्ती ट्रेन में एक सन्नाटा।। करीब करीब दस मिनट तक हम दोनों चुप रहे। फिर अचानक प्रतिमा ने कहा : “रजनी बाबू, आपका क्या खयाल है—औरतों को इस देश में स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए या नहीं ?” मैं अपनी आँखों के आगे मैगज़ीन लगाए रहा, बोला : “मैं कैसे जवाब दूँ जब तक मुझे यह मालूम न हो कि आप स्वतन्त्रता के क्या मानी लेती हैं। स्वतन्त्रता जिसे आज़ादी कहते हैं किसी हद तक ही अच्छी है—न सिर्फ़ औरतों के लिए बल्कि आदमियों के लिए भी। हद के बाहर गुज़रने को आज़ादी

नहीं, लाइसेन्स, कहते हैं।” प्रतिमा अपना निटिंग थोड़ी देर के लिए बन्द कर मेरी ओर देखकर बोली : “तो आप वेस्ट की ‘इमेन्सिपेटेड’ औरतों के कायल नहीं ?” मैंने अपनी मैगज़ीन बर्थ पर रख दी; ज़रा पास खिसक कर बोला : “क्यों नहीं ? वे लोग अब दायरे को पार करना चाहती हैं। मेरा विश्वास है कि ऐसी आज़ादी औरतों को देने से अनर्थ ही होगा, लाभ नहीं—चाहे बात इस देश की हो या चीन, जापान, रशिया इंग्लैंड की।” प्रतिमा देवी फिर अपनी सलाहियाँ चलाना शुरू कर मुस्कराती हुई बोली : “मैं देखती हूँ कि आप सब लोग, करीब २ एक जैसा ही सोचते हैं ? क्या मनुष्य में स्त्री को समझने की शक्ति ही नहीं ?”

मैं चौंक गया। प्रतिमा बड़ी आग्यानी से अब मनुष्य मात्र के प्रति उनकी सीमित बुद्धि पर अपना क्रैसला दे रही थी। यह तो मैं देख ही रहा था कि वह कॉलेज से निकली हुई बड़ी टिपिकल माडर्न गर्ल है। उसमें भिन्नक नहीं, संकोच नहीं—परन्तु क्या उसमें शील है, निष्ठा है, संयम है, त्याग है, विवेक है ? बम्बई पहुँचते २ तो बहुत कुछ पता लग ही जायगा। सैलेश की बीबी यदि स्वतन्त्रता की परिभाषा में गलती कर गई हो, तो सैलेश जैसा सीधा-साधा पति उसे सही रास्ते पर जल्द न ला सकेगा। मेरा यह विश्वास ही नहीं, अनुभव भी था। मैं फिर से वही मासिक पत्रिका उठाकर उसमें देखने के बहाने प्रतिमा की शक्ल देख रहा था। प्रतिमा की आँखों में एक अजीब चुलबुलाहट थी। होंठ बन्द, भौहें ज़रा तनी, पर आँखों में शरारत की हँसी यह साफ़ गवाह दे रही थी कि मनुष्य भोले होते हैं। उनमें वाकई औरतों को समझने की ताकत नहीं होती !

मैं कुछ परेशानी से अपनी सीट में हिल डुल रहा था। जवाब तलब किया गया था—जवाब था . . . मैंने इस समय बड़ी बुद्धिमानी से काम निकालना चाहा। बोला : “प्रतिमा देवी, यदि मनुष्य

स्त्री को समझ पाय—या स्त्री मनुष्य को—तो फिर जीवन में रहस्य ही क्या रह जायगा ? और जीवन का साधुर्य इसी कौतूहल, इसी समस्या में तो है ।”

प्रतिमा मेरी ओर देख हँस पड़ी । निटिंग को झट लपेट कर उसने फिर उसी रेशमी थैली में ठूँस दिया, और बोली : “आप भी क्या दस कोरा से बातें कर रहे हैं । गाड़ी भी निगोड़ी ऐसा शोर कर रही है कि कुछ नहीं सुनाई आता । आइये न ज़रा पास, या यहाँ आइये । प्रतिमा ने अपनी बर्थ की ओर इशारा करते हुए कहा । मैं अब भी निश्चित रूप से यह न समझ पाया कि वह क्या चाहती है ? स्त्रियों के लिये आज़ादी या अपने लिये...

मैं उठकर प्रतिमा की बेंच पर जा बैठा । मेगज़ीन अब भी मेरे हाथ में थी । मैं पन्ने उलट रहा था । एक प्रिंटेड लेटर-हेड पर, जो इस मेगज़ीन में रखा हुआ था, मेरी नज़र पड़ी । जो मज़मून छपा या लिखा हुआ था यों था : Bill no 456. Dr. Gugendranath Seal, Sex Specialist, 65, Harrison Road, Calcutta. Patient's name, सैलेश चन्द्र बसु ३७०, मानिक तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता । Treatment for Impotency, for 15 days. Rs. 450.

मेरा सर चकर खाने लगा । मैंने वह मेगज़ीन झट बन्द कर दी । और ठिठक कर मैं बैठ गया । सिगरेट का कश लगाते हुए मैं किसी गहरे ख्याल में डूब गया । क्या सैलेश को यह शिकायत है, या थी ? कब से—शादी के बाद से या पहले से ही—अगर पहले से ही थी तो इसने शादी करने में इतनी जल्दबाज़ी क्यों की ?, उसकी स्त्री क्या सोचती होगी ? लेकिन उसके चेहरे पर ज़रा भी मलाल नहीं—वह तो बड़ी खुश नज़र आती है—या मनुष्य स्त्रियों को समझ नहीं पाता ?”

मैं ऊपर पंखे की ओर देख रहा था। पंखा बड़ी तेज़ी से चल रहा था। मैं फिर सोच में पड़ गया। बड़े लापरवाह हैं ये लोग। इस कागज़ को इतनी असावधानी से कहीं भी डाल दिया है। यदि यह बात किसी को मालूम हो जाय तो? क्या फ़ज़ीहत होगी इस बेचारे की? और इन देवी जी की भी क्या बुरी ग़त बनाई जायगी!”

मैं अभी इसी उधेड़ बुन में था कि प्रतिमा के होंठों पर एक विजय की हँसी की झलक मुझे दिखी। एक स्कीम नहीं, दो स्कीमों थीं। मेरी तो इन लोगों के डिब्बे में उन्हीं की बेकार टिकिट का फ़ायदा उठाते हुए सेकिन्ड क्लास में सफ़र करने की थी। परन्तु दूसरी स्कीम जो मेरी नहीं बल्कि सैलेश की नई बीबी की थी (वह तो इस क्रिस्से का खास राज़ है) स्पष्ट शब्दों में अभी नहीं बताई जा सकती।

सहसा प्रतिमा देवी खिड़की से बाहर देखती हुई बोलीं: “तो फिर आपकी क्या राय है इसमें?”

“किसमें?”

“क्यों बनते हैं, रजनी बाबू? बोलिये ना साफ़ साफ़।”

“प्रतिमा देवी, मैं वाक़ई आपकी बात न समझ सका।”

“झूठ बोल रहे हैं आप।”

“मैं क्यों कर झूठ बोलने लगा?”

“आप सब जान गये हैं।”

“क्या जान गया हूँ?”

“जो उसमें लिखा है। आपने तो वह पर्चा पढ़ ही लिया है।”

मैं अपनी झूठ न निभा सका। मेरा चेहरा गवाही दे रहा था कि मैं खुद बेवकूफ़ बन रहा हूँ। सारा प्रयत्न छोड़ मैंने बड़ी बेहयाई से कहा :

“कय से इनकी यह हालत है ?”

“आप जानते हैं मुझ से अच्छा। वे तो आपके पुराने दोस्त हैं ना ? मैं तो अभी बीस दिन भी नहीं हुए उनके पास आई हूँ।”

“आप मेरी राय किस बात में पूछती हैं ?”

“कि ऐसी हालत में स्त्रियों को आज़ादी मिलनी चाहिए या नहीं ?”

“तो आपकी तमाम बहस बस इसी मुद्दे के सिलसिले में थी ? मुआफ़ कीजिए मैं आपको समझ न पाया था।”

“खैर अब तो आपने समझ लिया ?”

“जी हाँ।”

“तो फिर आपकी राय ?”

मैं सम्हल कर बैठ गया। कुछ खांस कर मैंने कहा :

“मैं मानता हूँ कि औरतों के हक़ में भी ऐसे मामलों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। उन्हें ज़रूर आज़ादी मिलनी चाहिए।”

प्रतिमा देवी ख़ूब ज़ोर से ठहाका मारकर हँस पड़ीं। अपनी रिस्ट-चाँच की ओर देखती हुई बोली : “देयर यू आर, रजनी बाबू। यू हेव्ह सेड इट। चलो अब उठाओ अपने दोस्त को, कुछ खायें-पीयें।” सैलेश अब भी खर्राटें ले रहा था। मैंने सैलेश को हिलाया। वह करवटें बदलता रहा। उठने का नाम ही न लेता था। प्रतिमा देवी ने कहा : “आपके दोस्त यों ही बच्चों जैसे सोते हैं तमाम रात। बड़े भोले हैं” प्रतिमा के मुख पर उसके शरीर का समस्त रक्त एकत्रित होकर उछलने लगा। अचानक उसकी आँखें सजल हो आईं।

मैंने अब तो बर्थ पर जा उन्हें उठाकर एकात्म बिठा ही दिया। वह आँख मलते हुए नीचे कूद पड़े और हम लोगों को देख कर बोले : “कहो कैसा रहा ताश का खेल ? कौन हारा, कौन जीता ?”

प्रतिमा जवाब देने को ही थी कि मैं बोल पड़ा : “कौन जीतेगा ? वही तुम्हारी बीबी प्रतिमा देवी ।”

इस मज़ाक पर हम तीनों खूब हँसे । दोनों टिफ़िन कैरियर साफ़ कर दिये गए । तमाम चीज़ें चट्टम हो गईं । सैलेश ने तो बाद को तीन चार सैगे नीबू के अचार से ही अपनी ख़ूब तसल्ली की ।

तीसरे रोज़ जब हम लोग ग़िहकटोरिया टरमिनस पर उतरे और सैलेश टैक्सी पर घर जाने लगा तो बोला : “रजनी, प्रतिमा का तुम्हें स्टैंडिंग इनव्हीटेशन है । जब भी फ़ुर्त मिले, ज़रूर आ जाया करो ।” मैंने अपनी टैक्सी में बैठने के पहले, प्रतिमा देवी को अपने रुमाल से गुडबाई वेव्ह किया । वह चलती कार से हाथ हिलाते हुए बोली : “ज़रूर आइये, रजनी बाबू, आप भी घर के आदमी जैसे हैं । आपको दावत की क्या ज़रूरत ?”

प्रतिमा देवी अब भी मुझ से अक्सर हँसकर पूछती हैं : “कहिये रजनी बाबू, आपकी क्या राय है इसमें ?”

मैं हँसकर कहता : “किसमें ?”

दंगल

जुगनसिंह तो पहिले शादी करने पर राज़ी ही न होता था। उसे

धुन थी बस एक ही बात की—अखाड़ा और कसरत। बरेली ज़िले में केलीपूर का अखाड़ा एक मशहूर अखाड़ा था। पिछले साल जब ज़िले के हाकिमों ने एक सरकारी जलसा चार-फण्ड के सिलसिले में कराया था तो सारे बरेली ज़िले में जुगनसिंह का जोड़ उससे दंगल में कुश्ती लड़ने के लिए न निकला था। जुगन की कुछ ऐसी धाक जमी थी कि उसका मुक़ाबिला लेने के लिए कोई तैयार ही न होता था। आख़िर फलेक्टर साहब (मिस्टर व्रंडली) ने बहुत समझा-बुझाकर मिर्ज़ापूर वाले हमीद मियाँ को जुगन से सलामी लेने दंगल में उतराया ही तो। हमीद मियाँ की शोहरत दो-चार ज़िलों में थी। वह कई दंगल मार चुका था; लेकिन किसी खास वजह से वह जुगन से कुश्ती न खेलना चाहता था। कोई कहता कि हमीद जुगन से घबड़ाता है; कोई कहता कि वह अपनी जोड़ से ही लड़ा करता है—जुगन उसके सामने अभी बच्चा है, वरगैरह, वज़ैरह। कई किस्म की बातें होतीं।

हमीद मियाँ जब दंगल में कूद ही पड़े तो लोग-बाग उसे देखकर दंग रह गए। गोरा-चिट्ठा बदन-चौड़ी उभरी हुई छाती, गठीली गर्दन बल खाई हुई भुजाएँ और सुडौल जाँघें—जुगन के आगे वह, दुगना नहीं, तो डेढ़ा ज़रूर ही जँचता था।

लोगों को यह जोड़ न जँची। कई कहते : “ग़ैर इन्साफ़ी है। हमीद जुगन से कहीं तगड़ा है। क्यों बेचारे जुगन को उसके मुक़ाबिले में दंगल में छोड़ा जाए ?” कुछ कहते : “अरे ज़रा सब्र तो करो।

देखो, जुगन इस मोटी लाश को, सलामी लेते ही, कैसा ज़मीन पर लाता है !” बालकों की भीड़ में तो काफ़ी ज़ोरों की बहस हो रही थी । हमीद मियाँ के अखाड़े वाले कहते : “बच्चे से क्या लड़ेगा ? उसे खिलाएगा ।”

दोनों पहलवान दो बाज़ू से लँगोट-जांघिया कस कर, अपने बदन के ऊपर एक सफ़ेद चादर ओढ़े, कटघर में घुसे । जुगन के शरीर का कस इसकी अपनी एक सिफ़त थी । रंग गेहुँआ, क्रद में हमीद से कुछ उतरता हुआ, लेकिन बदन में फुर्ती मानों ठूँस कर भर दी गई हो । प्रदर्शक लोग इस निहायत खूबसूरत जोड़ को देख बहुत खुश हुए । जो लोग कुश्ती के असली राज़ को जानते थे कह रहे थे कि कुश्ती का खेल हुनर का है । भारी हलके शरीर से क्या मतलब ?

दोनों पहलवान भीड़ में अपनी-अपनी जगह तेज़ी से उठकर कटघरे के भीतर आपड़े । शरीर पर से चादर निकाल दोनों ने बाहर फेंक दी, और ख़म ठोक कर आमने-सामने, पहलवानी अदा से, खड़े होगए । जुगन और हमीद वाक़ई बेजोड़ नज़र आते थे । जुगन था बड़ा दिलेर । वह कभी दंगल न हारा था । हर जगह वह क़तहयाब रहता । हौसला काफ़ी था । उसने हँसते हुए सलामी ली । हमीद भी अपने बदन पर कुछ मिट्टी उछालता हुआ, निहायत अदा व अन्दाज़ के साथ, आगे बढ़ कर, जुगन को अपनी तेज़ अंखों से तौलने लगा । दोनों ने फिर दोबारा करीब आकर सलामी लेनी चाही । सलामी ख़त्म होने ही ज़ारही थी कि जुगन ने बड़ी सफ़ाई से हमीद के हाथ को पकड़ कर इस ज़ोर का झटका आगे की ओर दिया कि वह मुँह के बल ज़मीन पर आया ही चाहता था; लेकिन अब तो जुगन हमीद की दोनों जाँघों के बीच पहुँच चुका था । इस सिफ़त से जुगन ने, वहाँ घुटनों के बल बैठ कर, अपना हुनर चलाया कि हमीद धम से ज़मीन पर औंधा जा

गिरा। बिजली की तेजी से जुगन लपककर हमीद की पीठ पर सवार होगया। तमाशबीनों की तालियाँ बज उठीं। लोगों में शोर होने लगा। दोनों अखाड़ों के दलों से आवाज़ें आने लगीं—‘संभल कर लेना शेर,’ जुगन का अखाड़ा उसे प्रोत्साहित करता। “अरे अब तो उसने ज़मीन पकड़ ली। वह अब क्या आसमान देखेगा?” हमीद मियाँ के कुछ साथी कहते। फिर हमीद को दाद देते : “शाबाश, हमीद मियाँ!” हमीद पड़े-पड़े हाथ से इशारा करता और अपने दोस्तों का हौसला बढ़ाता।

जुगनसिंह ने जिस तेजी से हमीद को ज़मीन पर लाया था उससे तो लोग यही गुमान कर रहे थे कि अब हमीद चन्द मिनटों में ही शिकस्त खा जाएगा। लेकिन बात यों न हुई। बीस मिनट तक जुगन ने हर तरह फोशिश की कि हमीद को वह आसमान दिखाए; पर हर तरह वह नाकामयाब ही रहा।

हमीद ज़मीन की कुश्ती बढ़ी नायाबी से लड़ता था। वह खुश था; उसे इत्मीनान था कि वह जुगन को खिला खिला कर ज़ेर कर देगा और, फिर जब उकका दम टूट जाएगा, बड़ी आसानी से वह उसे नीचे लाएगा। जुगन पहिले तो बड़ी तेजी से लड़ा; पर, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया और उसके हुनर हमीद को चित करने में नाकामयाब हुए, वह हिम्मत हारता-सा गया। कटघरे के चारों ओर हमीद मियाँ पड़े-पड़े घूम गए। जुगन पीठ पर सवार रहा। लेकिन यह कुश्ती न थी—बड़ी भद्दी भिड़न्त; जिसे देखकर सरकारी कर्मचारी लोग बारबार कह उठते : “This is too much of a good joke.” (यह तो ख़ाया मज़ाक है।)

कटघरे के पास खड़े हुए प्रबन्ध-कर्ता इन दोनों पहलवानों को देखकर बार-बार कहते : “अरे भई, कुछ खेलो भी। यों क्या पड़े हो?”

हमीद को ताय आगया । बोल उठा : “इमे तां अभी मैं खिलाऊँगा : यह बच्चा है ।”

जुगन हमीद की पीठ पर बैठा बैठा व्यंग्य कसता : “यह कुंती है ? ज़मीन पर पड़े हो; उठो ! देखो, कुश्ती कैसी होती है !”

लोगों की भीड़ की गड़बड़ में इन लोगों में जो परस्पर नोंक-झोंक चल रही थी सुनाई न पड़ी । परन्तु पास वाले जो सुन रहे थे हँस पड़े—चिल्ला उठे : “हम कुश्ती देखने आए हैं, न कि लड़कियों का खेल !”

दोनों पहलवानों को यह बात चुभ गई । हमीद ने जुगन को उकसाया :

“मारा आलम हँस रहा है । क्यों तू हुनर नहीं चलाता मुझ पर ?”

जुगन ने जवाब दिया :

“आलम हँस रहा है तुझ पर । क्यों तू ज़मीन से नहीं उठता ?”

“तो उठूँ ? बोल ।”

“है हिम्मत तो उठ ।”

“देख !”

“अरे यह धौंस किसी दूसरे को देना, मियाँ ।”

हमीद इकबारगी, दम साध कर, इस तेज़ी से उठा कि जुगन दम हाथ की दूरी पर जाकर, कटघरे के खम्भों के पास, धड़ाम से औंधा गिरा । लोगों में फिरसे सनसनी फैली । ब्रेडली साहब से न रहा गया । वह बोल उठे : “बहुट अच्छा, हमीद मियाँ !”

फिर जाँधें ढींक कर दोनों पहलवान भिड़ पड़े । आलम पर रंग गहरा जमता गया । आध घन्टा हो चुका था । लोग देख रहे थे कि हमीद मियाँ में दम है । जुगन की पहिली क़ुर्ती अब न रही । वह

हाँफ़ रहा था। जुगन के अखाड़े वालों का मुँह उतर गया। उन्हें ऐसा लगने लगा मानों हमीद ही दङ्गल मार लें जाएगा।

खेलते २ फिर दुबारा, जुगन ने एक ऐसा पेंच लगाया कि हमीद ज़मीन पर आता-आता संभल गया; लेकिन इस हुनर ने खुद जुगन के पैर ऐसे उखाड़ दिया कि वह न संभल सका, और वह ज़मीन पर, मुँह के बल ज़ोर से आ गिरा। अब क्या था? हमीद मियाँ, निहायत कुर्ती के साथ उछल कर, जुगन की पीठ पर जा बैठे। लोगों में अब एक शोर बरपा हो गया। हमीद के अखाड़े वाले तो तैश में आ उछल पड़े। उसका बूढ़ा उस्ताद, जो अभी तक चुप बैठा बैठा देख रहा था, चिल्ला उठा : “कैची लगादे, कैची, अब तो तेरी बारी है।”

जुगन ज़मीन पर पड़ा था। उसके मुँह पर मुस्कुराहट खेल रही थी। पड़े पड़े बोला :

“खेल ले दिल खोल कर।”

“चल रहने दे शेखी,” हमीद ने कहा।

“देख, भला !”

“हाँ, हाँ।”

एक सेकण्ड के भीतर—न मानूँ किसका क्या हुनर था—दोनों पहलवान दो तरफ़, अपनी अपनी याज़ू पर एक धमाके की आवाज़ के साथ, जा गिरे। भीड़ में, खलबली मच गई। लोग तालियाँ बजा बजा कर ‘वाह, वाह’ कह उठे।

फ़ौरन दोनों उठ खड़े हुए। दोनों ने फिर हाथ मिलाया। जुगन ने आहिस्ता कहा :

“बोल कितना दम है तुझ में।”

“अरे खेल तो सही,” हमीद मियाँ भी, निहायत आहिस्ता मगर लापरवाही और हिकारत की नज़र से उसे देख, बोले।

जुगन ने फिर एक नया पेंच लगाया। बस कमाल ही कर गया। हमीद फिर दुबारा ज़मीन पर आँधा आ गिरा। जुगन लपक कर उसकी पीठ पर सवार हो गया। लेकिन अब जुगन का चेहरा काला पड़ गया था। मुँह सूखा जा रहा था। पसीने से सारा बदन तर हो गया था। लेकिन फिर भी जुगन ने, अपनी सारी ताकत इकट्ठा कर, हमीद पर एक निहायत मनहूस पेंच खेला। हमीद का बाँया मोहड़ा उतर गया। दर्द की वजह हमीद को आँखों से आँसू निकल पड़े। लोग देखकर दम साभ गए। बच्चों से तो देखा न गया। उन्हें पता लग गया कि कहीं हड्डी उतर गई है। उन लोगों ने थोड़ी देर के लिए मुँह मोड़ लिया। पर यह तो कुश्ती है। पुलिस को मजाज़ है कि वह तांगे के घोड़े को उसके सख्त-दिल मालिक की बेरहमी से बचा सकती है। घरेलू जानवरों के लिए इन्सान के दिलों में काफ़ी रहम है। पर इन्सान इन्सान के लिए कब पसीजता है ? हमारी बीसवीं सदी की तालीम व तहज़ीब ही ऐसी है। यह ज़माने का कुसूर नहीं, बल्कि जमात का है। चुनाँचे क्योंकि कोई किसी को रोक-थाम कर सकता था ? क़साईगिरी हुनर के नाम पर लोगों के मन-बहलाव के लिए क़ानूनी तौर पर अमल में लाई जा सकती है। अगर इसमें किसी बशर को ज़रूर पहुँचे या उसकी मौत हो जाए तो क़ानूनन जमात इसे 'मिसएडव्हेन्चर' कहकर, देखी बात को अनदेखी कर देती है।

“बोल, छोड़ दूँ ?” जुगन ने हमीद से पूछा।

“एक हाथ तेरे लिए काफ़ी है,” हमीद ने कराहते हुए कहा।

“फिर शेखी ?”

“तेरी या मेरी ?”

एक पल भर में हमीद ने अपने दाहिने हाथ से जुगन को अपनी पीठ पर से नीचे दे मारा और अपनी जाँघों के बीच इस बुरी तरह

उसे पकड़ रखा कि वह करीब-करीब आज़िज़ आगया; और अभी दो मिनट भी न होने पाए थे कि हमीद ने अपना आखिरी हुनर काम में लाया। जुगन का दाहिना हाथ बहुत बुरी तरह हमीद के शिकंजे में आगया था। ज्यों-ज्यों वह हाथ ऊपर को मरोड़ा गया त्यों-त्यों जुगन आसमान देखता चला गया। आखिर जुगन चारों खाने बिन हो ही गया।

हमीद मियाँ ने बाज़ी मार ली—दंगल जीत लिया।

कलेक्टर साहब ने अपने हाथ से पाँच सौ रुपए ईनाम हमीद मियाँ को दिया, और बोले : “तुम अपना हाट का इलाज सिविल सर्जन से कराओ।”

हमीद मियाँ की धाक मिर्ज़ापुर से ले बरेली तक खूब जमी।

जुगन, दंगल खाकर, बड़ा ही पशेमान और रंजीदा हुआ, मानों किसी शाह का तहत छिन गया हो। दूसरे रोज़ अलस्सबाह ही जुगन, रिक्टिंग ऑफिस में जा, फौज में भरती होने वालों की फ़ेहरिस्त में अपना नाम चुपके लिखवा आया। ‘और क्या ? अब मैं मुँह दिखलाने लायक न रहा। लड़ाई पर चला जाऊँ तो ही अच्छा। मरूँ चाहे जीऊँ—बला से।’

जब जुगन की बूढ़ी माँ को पता लगा कि जुगन दंगल में हार कर अब लड़ाई पर अपनी जान देने जा रहा है तो वह ग़रीब बहुत रोई। जुगन को गले लगा कर बोली :

“बेटा, जुगन, तुझे देखकर ही मैं जीती थी। अब क्या तू भी चला छोड़ मुझे : जहर न देता जा मुझे अपने हाथ से।”

जुगन अपनी माँ का बहुत लाड़ला था। वह भी माँ को बहुत चाहता था। उसका दिल भर आया। माँ की पीठ सहलाते हुए बोला :

“न रो माँ, मैं क्या हमेशा के लिए जा रहा हूँ ?”

माँ बेचारी और भी फूट-फूट कर रोती। ज़िन्दा आना क्या जुगन के अपने वस की बात है ?

“अच्छा भाई न जाऊँगा। पर रो मन्ती,” कह कर जुगन ने अपना पीछा छुड़ाया।

लेकिन नाम लिखवाने के बाद जाना न जाना जुगन के वस की बात तो न थी। चुनौचे एक रोज़ उसे इत्तिला मिल ही गई कि अगले माह की दस तारीख को जाने के लिए वह तैयारी में रहे।

आज से करीब पन्द्रह दिन की बात थी। जुगन अपनी बूढ़ी माँ को छोड़कर जल्द लड़ाई पर चला जाएगा। हमीद मियाँ ने उसे दङ्गल में क्या पछाड़ा गोया एक मसता भरी माँ से उसकी गोद का लाल ही छीन लिया। लेकिन हमीद को जब पता लगा कि जुगन लड़ाई पर जा रहा है तो वह कबूतियाँ कसने लगा : “क्यों न हो ? सरकार इस बहादुर के बग़ैर जर्मन से लड़ाई थोड़े ही जीत सकती है !”

एक रोज़ शाम के वक्त, करीब छः बजे, जुगन अखाड़े से, अपनी लंगोट बग़ल में दबाए, बड़ी मस्त चाल से डोलते हुए घर आ रहा था। राह में, राम मंदिर के पामवाले पीपल के करीब, उसकी नज़र चैतसिंह की लड़की रंधिया पर पड़ी। वह बाज़ार की ओर से आ रही थी। उसके हाथ में एक छोटी-सी पुटरिया थी। दोनों की आंखें चार हुईं; और थोड़ी देर के लिए दोनों ही अपनी-अपनी जगह ठिठक से गए। दोनों मूर्तिवत्, सकते के आलम में, एक दूसरे की ओर देखते ही रहे। फिर सहसा रंधिया लजा गई। उसकी आंखें नीचे झुक गईं, और वह तेज़ी से रास्ता काट कर दूसरी गली में जा छिपी। जुगन संभला, और घर की ओर बढ़ा। घर में उसकी माँ ने उसके लिए चावल की खीर पकाई थी। पर जुगन ने खाने से कतई इन्कार कर दिया; बोला : “आज मेरा जी अच्छा नहीं लगता, माँ। मेरे सिर में

दर्द है।" माँ ने भी आग्रह न किया। वह उसकी प्रकृति को जानती थी। ऐसे समय खाने से उसे विकार ही होता है। अतएव, कहा : "बेटा जा, बिस्तर पर लेट रह, तेरे लिए कल फिर खीर बना दूँगी।"

चैतसिंग केलीपूर का एक भला काश्तकार था। इसकी लड़की रधिया ने चैतसिंग के यहाँ जन्म लेकर यह सिद्ध कर दिया था कि ईश्वर ने सौंदर्य को न केवल धनवानों के लिए ही दे रखा है। सौंदर्य गरीबों में भी पाया जाता है : और वह उन्हीं में पूजा भी जाता है। रधिया की माँ ने कई मरतबा जुगन की शक्ल, सेहत और नेकचलन को देख, उसकी माँ से कहा : "बहन, रधिया के ददा तो कहत रहैं कि रधिया-जुगन की जोड़ी बहुत नीक रहैगी, जौन तुमका पसन्द होई तौ। का हरज है जो एही फागन माँ दूनों के हाथ पीले कर दीन जाय ?"

जुगन के मां को यह प्रस्ताव कब नामंजूर था ? उसकी नज़र तो रधिया पर कबसे थी, पर करती क्या बेचारी ? लड़का माने तब ना ? जुगन तो शादी का नाम सुनते ही घर से बाहर चला जाता :

जुगन ने रधिया को आज तक कभी आँख उठा कर न देखा था। उसे धुन थी बस कसरत और अखाड़े की। ज़िन्दगी में धुन ही तो एक शय है कि जिसकी वजह इन्सान कई बलाओं से बचा रहता है। जुगन जैसा खूबसूरत, गठीला, कसरती जवान पच्चीस साल की उम्र में भी अगर शादी करने को राज़ी न हो तो यह भी धुन का एक क़रिश्मा ही समझा जाना चाहिए। चुनांचे, जुगन को बड़ी बेफ़िक्री थी। ईश्वर की दया से ज़मीन काफ़ी थी। काश्त से काफ़ी पैसा मिल जाता था। खाने वाले सिर्फ़ दो—बूढ़ी माँ और वह खुद। सिवा कसरत के उसे किसी चीज़ का शौक न था। लड़कियों की ओर तो वह कभी देखता ही न था।

कलेक्टर के दङ्गल में हमीद से शिकस्त जुगन का मन अखाड़े से एकदम उचाट खा गया। 'मारो गोली;' उसने मन ही मन कहा, 'कहीं कसरत से जिन्दगी की गाड़ी धकती है?'

लड़ाई पर जाने की बात तो उसने यों ही हमीद से मार खाकर अपना मुँह चन्द रोज़ के लिए काला करने की गरज़ से ही सोची थी। पर जब से जुगन दङ्गल हारा तभी से जिंदगी का सच्चा पहलू भी बार बार उसके आगे आता। अकस्मात आज रधिया ने मानो उसे बरबस हिलाकर होश में लाया है।

लेकिन अब क्या करे? हमीद से मार खाकर लड़ाई पर चले जाना निहायत आसान बात थी। पर क्या रधिया की चितवन से घायल होकर अब इस गाँव को सदा के लिये छोड़ देना भी उसी तरह आसान है? कदापि नहीं। जुगन अब अपने मन की उजझी हुई गुँथियाँ सुलझाने लगा। आवेश में आकर, बग़ैर सोचे समझे, उसने एक रोज़ अपना नाम जङ्ग पर जाने के लिए लिखवा दिया था। लेकिन क्या अब भी वह अपनी माँ को छोड़—रधिया को छोड़कर दूर देश जा सकता है?

जुगन के जाने का दिन क़रीब आता गया। माँ को अब आशा न थी कि जुगन का जाना रुक सकता है। उसने अपनी छाती पर पत्थर रख लिया था। वह चतुर स्त्री थी। वह जानती थी कि उसके रोने-पीटने से जुगन की हिम्मत कचक जाएगी : वह न रोई। पर उससे रहा न गया। एक रोज़ बोल ही बैठी :

“जुगन बेटा, तू छुआरा ही लड़ाई पर मति जा। मान ले हत्ती माँ की। कल्ले ब्या मैं तुम दोनों की जोड़ी देख लूँ तेरे जाने से पहले।”

जुगन मारे खुशी के उछल पड़ा। माँ ने भी क्या उसके दिल की बात आज कही है, बोला :

“माँ अब क्या जाने के समय ना कहूँगा। करदे ब्याह जो तेरा मन ही कहे है।”

माँ का मन आनन्द से उछल पड़ा। फिर क्या था? दौड़ी-दौड़ी जुगन की माँ चैतसिंग के घर गई। पुकारा :

“गंगा बहन, गंगा बहन, जरा इतै तो अइयो।”

चैतसिंग की स्त्री हाँफते-हाँफते बाहर आई। मोटी होने कि कारण उसकी साँव जल्द फूल जाती थी।

“बैठो बहन, ठाढ़ी काहे हौ,” वह बोली।

“एक बात कहूँ?”

“हाँ, हाँ बहन।”

“जुगन राजी भै गवा है, आठ दिन बाकी हैं अभी जाय का। सगुन देखकर इसी हफ्ते के भीतर इनका ब्याह न कर दें?”

गंगा बहन बड़ी ही खुश हुई। उसकी आँखों से आनन्द के आँसू टपक पड़े। “मैं रधिया के दहा से पूछ कर सब ठीक कै लेत हूँ। भगवान ने मोर मनकी बात सुन लई,” उसने कहा।

शादी बड़ी ही सादगी और किफायत से हुई। चैतसिंग ने कहा : “मैं लड़की को जो देना है दूँगा। पर पैसा फ़िजूल न फेंकूँगा।” जुगन बिल्कुल सहमत था। “शादी से मतलब है या पैसे की बरबादी से?” उसने कहा।

रधियान्जुगन का जोड़ा खूब जँचा। शादी के बाद तीन रोज भी गाँव में न रह पाया था कि जुगन के कूच का दिन आ पहुँचा।

रधिया ने दिल पत्थर का बना लिया। उसकी आँख में नमी तक न आने पड़ी। जुगन पहलवान का दिल रो पड़ा। माँ, सास, ससुर, गाँव के लोगों से यथायोग्य मिलकर वह जाने को चल खड़ा हुआ। यह बाँका जवान निपाही की खाकी वर्दी में खूब जँच रहा था। खाक

में मिले वह वहीं । रधिया से अधिक न देखा गया । गाय के कोठे में जाकर उन शाम वह खूब रोई ।

आज दो वर्ष बाद रधिया को एक पत्र आया । लिखा था :

“रधिया रानी,

“तू खुश तो है ना ? मैं घर वापिस आ रहा हूँ । तेरे लिए एक कैमरा लेता आ रहा हूँ । यह मुझे मेरे कप्तान ने इनाम दिया है । मैं तुझे तसवीर लेना सिखाऊँगा । इस माह के आखिर घर पहुँच जाऊँगा ।

“माँ को मेरी पायलागन कहना ।

“तेरा

—“जुगन”

जुगन जब बैलगाड़ी से उतरा तो उसकी सिर्फ डेढ़ टांग थी । दाहिने हाथ की पांचों अँगुलियाँ गायब थीं और बाईं आँख के ऊपर एक हरे कपड़े की पट्टी बँधी थी ।

रधिया दौड़ी-दौड़ी गाड़ी के पास आकर सहसा रुक गई । उसकी आँखें पथरा गईं । ‘राजा’ कह कर वह बेहोश ज़मीन पर गिर पड़ी । जुगन की माँ की छाती पर पत्थर धरा ही रहा !

जुगन के विस्तर में से चन्द चीजें निकलीं; उसमें से कुछ तो उसने आते समय कलकत्ते में खरीदी थीं—रधिया के लिए कैमरा, पाउडर का डिब्बा, क्रीम और मेकअप सेट; माँ के लिए धोती; और हमीद के मिथों के लिए लुझी—हमीद जिसने उसे रधिया दिलाई थी ।

तोहमत

रंगीली तबीयत के लोग फहाँ नहीं पाए जाते ? हर देश में, हर जगह, हर व्यवसाय में, हर मुहकमे में ये लोग होते हैं। इनका आशिकाना मिज़ाज पैसे से कोई खास ताल्लुक नहीं रखता; क्योंकि पैसा और आदमी की स्वाभाविक वृत्ति, इन दोनों में विशेष सम्बन्ध नहीं। अक्सर देखा जाता है कि छोटी छोटी नौकरी में लोग जिंदगी की रंगीली सूरत से अधिक लुभा जाते हैं, और इन लोगों का दिल अपनी आर्थिक स्थिति के लिहाज़ से कुछ इयादा उदार होता है। किन्तु हर नियम का अपवाद भी उसी के साथ लगा है।

करतार सिंग बड़े आशिक मिज़ाज आदमी थे। वैसे थे तो खानदानी, लेकिन जब से वे विलायत हो आए हैं कुछ साहबी ठाठ-बाट उनके सर ऐसा सवार है कि अपनी साफ़ ज़बान को भी तोड़-मरोड़ कर साहबी-हिन्दी बोलते। “तुम” का “टुम” जैसा उच्चारण करते और “हम करना माँगटा,” “टुम जाना माँगटा” ऐसी अङ्गरेज़ी-हिन्दी बोलते। अपना मिज़ाज बिला ज़रूरत ख़राब कर रक्खा था। छोटी छोटी बात पर झुँझलाते, नौकरों से बेतुकेपन से, ख़्वाह म ख़्वाह बदतहज़ाबी के साथ पेश आते, और इसी में अब आप अपनी शान समझते।

बाहर तो वे अङ्गरेज़ी स्टाइल से ही घूमते-फिरते—अप-टू-डेट फैशन का सूट, रेशमी मोज़े, किड-लेदर के शूज़ और क्रीमती सिल्क टाई—यह तो साहब बहादुर का रोज़मर्रा का तरीक़ा था। लेकिन घर में भी वे अङ्गरेज़ी जैसे ही सूट-बूट में डटे रहते, दिन भर सिगरेट का क़श लगाते, और ऑक्सफ़र्ड स्टाइल से कुहनी को बग़ल से हटाए,

हाथ फुलाकर, आगे को झुकते हुए चलते, गोया डार्विन की औलाद ही हों।

वैसे असल में इनका मिज़ाज ख़राब न था। इंगलैंड जाने से पहले तो बड़े ही खुश मिज़ाज आदमी थे, और रहम दिल भी। लेकिन कभी कभी लोग ज़िंदगी में कामयाबी—या जिसे वे कामयाबी समझते हैं—हासिल करने के लिए एक अजीब तरीक़ा ढूँढ़ निकालते हैं। चुनाँचे जनावर करतारसिंह साहब ने अपनी भलमनसाहत बालाए ताक़ रख बन्दरों की बेहूदा हरकतों को अपनाया, और उनका इस्तेमाल उठते-बैठते दिल खोलकर करने लगे।

इनकी बीबी बड़ी नेक थी। घर में ऊँची-नीची बात हो भी जाती मगर उसकी पेशानी पर कभी शिकन न आती। नौकरों के हक़ में तो बहोत ही मेहरबान और हमदर्द। शादी हुए अभी पूरे पाँच साल भी न हुए थे। इनके दो निहायत ख़ूबसूरत बच्चे थे, जिन्हें देख करतार सिंह के दोस्त उनकी सेहत की बड़ी तारीफ़ करते।

करतार सिंह अपने सरकारी काम में बड़े लायक़ समझे जाते थे। उन्हें इस क़ाबलियत के लिए पिछले साल ही गव्हर्नमेंट से एम. बी. ई. का ख़िताब मिला था। कुछ माह बाद ही तनख़्वाह में एकदम तीन सौ रुपए की तरक़की भी मिली। अब तो इन्हें बारह सौ माहवार मिलता है, और सरकारी कमचारियों में इनकी काफ़ी इज़्ज़त है। क्यों न हो? जब किस्मत देती है तो ऐसा ही देती है।

करतार सिंह जब से इंगलैंड से वापस आये हैं इनमें बहुत सी तबदीलियाँ हो गई हैं। अपने सर के बाल, डाढ़ी-मूँछ सब कटाकर केश धारी सिख से मोना बन बैठे हैं। साहबाना कपड़े, खाने-पीने का

तरीका, साहबाना मिज़ाज और यहाँ तक कि साहबाना बदमिज़ाज भी—यह इनकी सिक्रत बन गया है।

यहीं तक होता तो कोई ख़ास बात नहीं थी। लेकिन करतार सिंह अब एक और नई चीज़ अपने साथ इंग्लैंड से लेते आए हैं। वह है इनकी रङ्गीली तबीयत। अब तो ये अपने बच्चों की आया से भी कभी कभी मुस्कराकर बात करते और अपनी टाइपिस्ट-गर्ल जोज़फ़ीन से तो अक्सर बड़े छुट छुट के अङ्गरेज़ी बोलते। मिस सिंग ने अपने शौहर की नई हरकतों को कई मरतबा देखा। लेकिन सिवा इसके कि कभी कभी रात के खाने में वह उनके साथ, सरदर्द के बहाने, शरीक न होती, किसी ने यह कभी न देखा या सुना कि वह नेक औरत सिंग साहब से इस बात पर उलझ पड़ी हो। वह देखी अनदेखी कर अलग हट जाती, और घर के काम में मशगूल हो जाती। बात भूल जाती या भूल जाने की कोशिश करती।

पाँच माह हुए साहब बहादुर ने मिस जोज़फ़ीन को टाइपिस्ट बनाकर अपनी ख़ासगी नौकरी में रखा है। इससे क्या टाइपिंग का काम लेते हैं यह तो किसी को नहीं मालूम। लेकिन यह ज़रूर सच है कि वह टाइप सबेरे से शाम तक करती रहती है। करतार सिंह की बीवी ने एक रोज़, इस एंग्लोइंडियन टाइपिस्ट को रखने के कुछ पहले, अपने शौहर से यह ज़रूर कहा था : “हो सके तो चलाए जाओ काम बग़ैर उसके। वह सौ से क्या कम लेगी ?” करतार सिंह अपनी बीवी को ख़ूब जानते थे। कुछ मुस्कराकर बोले : “तुम तो जानती हो कि मैं सौ दूँगा तो तीन सौ निकाल लूँगा।” बीवी चुप हो रही। उसने यह न पूछा कि सौ तो यह लड़की ले जाएगी लेकिन तीन सौ कैसे और कहाँ से आजाएँगे। इस औरत के मिज़ाज में यह बात ही नहीं

थी की वह अपने शौहर से चक्क चक्क करती। वह बहुत कम बीलती, बहस-मुबाहिसा करना तो जानती ही न थी। बड़ा ही अच्छी तबाअत पाई थी उसने।

आखिर एक रोज, न मालूम कहाँ से झूठ कर, करतार सिंग एक खूबसूरत एंग्लोइंडियन लड़की, करीब बीस-इक्कीस साल की, जो बॉन्ड हैथर रखती, होंठ और नाखून रंगती और सिगरेट का कश लगाती, लेकर घर पहुँच ही तो गए। अपनी बीवी को बुलाकर मिस जोज़फ़ीन का 'इन्ट्रोडक्शन' कराया। मिसेस सिंग को भी थोड़ी इंगलिश आती थी। लेकिन करतार सिंग ने इन्ट्रोडक्शन में इस समय हिन्दी से ही काम लिया। बोले : "मेरी बीवी; मिस जोज़फ़ीन—जो अपने यहाँ स्टेनोग्राफ़र और टाइपिस्ट का काम करेंगी।" करतार सिंह की बीवी ने मिस जोज़फ़ीन की तरफ़ मुखातिब होकर कहा : "मैं खुश हुई आप से मिलकर।"

जोज़फ़ीन को उसका कमरा दिखाया गया। वह बैंगले से लगा हुआ एक कोने में था—छोटा-सा, लेकिन निहायत अच्छा फ़र्निशड; जिसमें एक कोने में एक छोटी-सी गोल मेज़, उस पर मेज़-पोश और मेज़पोश पर एक गुलदस्ता रखा हुआ था। फ़र्श पर एक कालीन बिछा हुआ था। एक टेबल पर 'ऑलीव्हर' ऑफ़िस-टाइप राइटर और बाज़ू वाली छोटी-सी मेज़ पर पेंसिल, कलम, दावात, चाकू, रबर, कैंची, ब्लॉटर, वग़ैरह—स्टेशनरी रखी हुई थी। पास में एक अङ्गरेज़ी डिक्शनरी रखी थी। एक बुकशेल्फ़ में करीब पचास-साठ अङ्गरेज़ी की किताबें रखी थीं। जोज़फ़ीन ने अपनी नज़र कमरे के चारों ओर दौड़ाई। खुश होकर बोली :

"इट्स ए लवहली लिटिल रूम। इम थ्योर आइ शुड लव्ह द वर्क इन ए प्लेस लाइक दिस।"

करतारसिंग, न मालूम इसे कबसे जानते थे, ज़रा ठिठाई के साथ पेश आए। मुस्फुराकर बोले :

“शुड यू नीड ए बेड लेटर टु रिक्लैस युअर सेल्फ़, वन शौल बी प्लेस्ड हियर।”

जोज़फ़ीन ज़रा घूम कर करतारसिंग को थोड़ी देर घूरती हुई हँस पड़ी :

“डियर, डियर, व्हाट एन आग्रडिया, मिस्टर सिंग !”

करतारसिंह बुकशेल्फ़ से एक किताब निकाल उसके पन्ने उलट रहे थे। जवाब में उनके मुँह से कुछ न निकला।

आज पाँच माह से मिस जोज़फ़ीन करतारसिंग के बँगले पर आया जाया करती हैं। इस दरमियान इस बँगले की मालकिन ने क्या पता लगाया यह तो कहना मुश्किल है, पर बँगले के नौकरों की नज़र से जो न छिप सकी वह यह बात थी कि सिंग साहब जोज़फ़ीन में बेहिसाब दिलचस्पी ले रहे हैं। पहिले तो टाइपिस्ट की कुर्सी एक छोटी-सी बेन्ट-ऊड चेयर हो थी, पर दस पन्द्रह रोज़ बाद एक बड़ी खूबसूरत कुर्सी, मामूली से ज़रा ऊँची और उस पर एक मखमल की मुलायम गद्दी लगी हुई इस कमरे में लाई गई। एक हफ़्ता बाद, सिंग साहब के कहने पर, मिस जोज़फ़ीन दोपहर को, लँच के लिए अपने घर न जाकर, यहीं बँगले पर लँच लेने लगी। एक रोज़ तो साहब बाज़ार जाकर बहुत-सी चीज़ें ख़रीद कर मोटर में लाद लाए। इन चीज़ों में दो-चार मिस जोज़फ़ीन के लिए भी थीं—एक जोड़ी रेशमी मोज़े, एक छोटा-सा हाथी दाँत का ‘मेक-अप’ सेट, कुछ रेशमी रुमाल और एक सेंट की शीशी। ये चीज़ें सिंग साहब ने पहिले अपनी बीवी को दिखलाईं। उन्होंने पसन्द की। फिर वे बोले : “ये तीन-चार चीज़ें मिस-जोज़फ़ीन के लिए हैं।” अपनी चीज़ों को समेटते हुए बाकी न पूछा : “बस तीन-चार ही ?” और वह वहाँ से चलती हुई।

एक रोज़ कोई अच्छा अङ्गरेजी पक्कर शहर में चल रहा था। लोगों में इस पक्कर का काफी चर्चा था। प्रस्ताव हुआ कि चला जाए। बीबी से पूछा। उनकी तबीयत ज़रा नासाज़ होने की वजह उन्होंने कहा :

“मैं तो शायद न चल सकूँगी।”

“तो फिर जाने में क्या मज़ा ?” सिंग ने कहा। “हम भी न जाएँगे।”

“क्यों जी, क्यों ? मैं न सही। तुम तो जाओ। देख आओ, अच्छा पक्कर कब बार बार इस गन्दे शहर में आता है।”

“सो तो ठीक है,” सिंग बोल पड़े, “लेकिन पक्कर भी कहीं अकेला देखा जाता है। साथ भी कोई हो।”

“तो साथ ढूँढ़ने कहाँ जाना है ? वह तो घर में ही है।”

“लेकिन जब वह ‘ना’ कहे तो ?”

“वह तो ना नहीं कहेगी।”

सिंग साहब की अक्ल में बात अब घुसी। इशारा मिस जोज़फ़ीन की तरफ़ था, और ये हज़रत समझ बैठे थे कि वह अपने आपको कह रही है। सिंग झट बोल पड़े :

“तुम्हारा मतलब मिस जोज़फ़ीन से है ?”

जवाब में सिंग की बीबी सिर्फ़ थोड़ा सा मुस्कराई।

“तो तुम क्या चाहती हो कि मैं उसे साथ ले पक्कर देखने जाऊँ ?” करतार सिंग ने स्पष्ट शब्दों में अपने दिल की बात रखी।

“क्या हर्ज है ?” बीबी ने जवाब दिया।

सिंग ऐसे बने मानों उन्हें इलेक्ट्रिक शॉक लगा हो। चुप हो रहे। उठ कर वहाँ से चल दिए। पक्कर देखने का प्रोग्राम तो कैन्सिल हो ही गया।

इस घटना को हुए अभी तीन माह भी न होने पाए थे कि सिंग साहब की बीबी बीमार हुई और एक नर्सिंग-होम में दाखिल हो गई। इन्हें पेट की कुछ शिकायत थी—तभी से जब से इनका पहिला बच्चा पैदा हुआ था। पिछले चार साल में तीन मर्तबा ये नर्सिंग-होम में रह चुकी थी। मिस सिंग के नर्सिंग-होम चले जाने के बाद सिंग साहब की रफ्तार कुछ तेज हो चली। लेकिन मिस जोज़फ़ीन का टाइपिंग ज़रा धीमा हो गया। सिंग हर दो घन्टे प्रेस से पंद्रह मिनट, आध घंटे के लिए बँगला आते और सीधे टाइपिस्ट के कमरे में जाते। और फिर वहाँ से ख़ूब हँसी-दिल्लगी की आवाज़ें आतीं। इस तरह माजरा कुछ ही दिन चला होगा कि एक रोज़ करीब तीन बजे दोपहर में, जब कि सिंग साहब को प्रेस से आकर कमरे में गए दस मिनट भी न होने पाए थे, मिस जोज़फ़ीन की एक तीखी चीख सुनाई पड़ी। थोड़ी देर बाद ही वह अज़रेज़ी में ज़ोर-ज़ोर से बहुत कुछ कह रही थी। नौकर लोग दौड़ कर बरानदे के करीब चले आए और ज़रा आड़ में थपक-से गए। सिंग की आवाज़ बिलकुल न सुनाई दी। वे शायद कुछ न बोल रहे थे, लेकिन मिस जोज़फ़ीन अब भी बुरी तरह फटकार रही थी। सब हैरत में थे कि ऐसी क्या बात हो गई कि सिंग जैसा तेज़ आदमी फटकार सुन रहा हो और एक निगोड़ी टाइपिस्ट लड़की अपने मालिक की इस बुरी तरह गत बना रही हो।

थोड़ी देर बाद सिंग साहब कमरे से निकल, सिगरेट का कश बेफ़िक्री से लगाते हुए, प्रेस की ओर चल दिए। उनके चेहरे पर किसी किस्म का भाव न था। टाइपराइटर फिर से 'क्लिक-क्लिक' चल उठा। फिर, से बँगले में वही सन्नाटा।

नौकरों ने बाद में पता लगाने की बहुत कोशिश की कि उस रोज़ हकीकत में क्या वाक़्या हुआ था। लेकिन कुछ भी पता न लग सका। साहब के न जोज़फ़ीन के मुँह से कभी एक शब्द भी निकला कि जिससे कुछ कयास लगाया जा सकता। अलबत्तह बंदी माली ने यह धीमी आवाज़ में कहा :

“साहब ससुरी या मिसिया के पीछे लगा है। जब देखो तब उसी के कमरे में घुसा रहत है।”

“नहीं रे, बंदी,” मोहन चपरासी जवाब देता, “मिस्सी साहब वैसी लड़की नहीं है। मैं तो उसको आज दस साल से देखता हूँ। मेरा भाई इसी के घर काम करता है। यह सारा घराना बड़ा भला है। इसकी मा तो क्रिस्तानी है पर बाप तो कोई मुसलमान अफ़सर रहा।”

“सुनो भी,” महमूद बावर्ची बोलता, “इन ससुरी बँदरियों की औकात ! दुनिया भर में यह कुतिया जैसी फिरती रहती है और मोहन कहता है यह बड़ी भली है।”

कुछ ही दिन बाद—अभी मिसेस सिंग नसिंग-होम में ही थीं—फिर एक घटना और हुई। करीब दो बजे दिन में सिंग साहब प्रेस से बँगला वापस आकर सीधे अपने बेड रूम में गए। कपड़े उतार स्लीपिंग सूट पहिन कर वह एक कमरे से दूसरे कमरे में टहल रहे थे। उनके चेहरे से जान पड़ता था उन्हें किसी किस्म की परेशानी है। नौकरों की हिम्मत तो न हो सकी कि पास जाकर उनसे पूछते कि बात क्या है ? लेकिन महमूद बावर्ची मालिक का मुँह लगा था, हिम्मत कर गया। वह किसी बहाने भीतर जाकर पूछ ही तो बैठा :

“कहिए, हुज़ूर, मिज़ाज तो अच्छा है ? आपको कोई तकलीफ़ तो नहीं ?”

सिंग साहब की भवें तन गईं। सुर्ख आँखें कुछ अजीब ढंग से घूम गईं। सिगरेट सुलगाते हुए बोले :

“कुछ नहीं। सब ठीक है। तुम बाहर जाओ।”

“बहुत खूब।”

महमूद बाहर निकल आया। थोड़ी देर बाद ही सिंग साहब ने आवाज़ दी : “चपरासी !”

मोहन लपक कर भीतर गया।

“देखो,” सिंग ने कहा, “मिस जोज़फ़ीन को यहाँ भेजो। कहो साहब की तबीयत ख़राब है।”

मोहन “जी हुआ” कहता हुआ बाहर निकला और टाइपिस्ट के कमरे में जाकर उसने ख़बर दी। मिस जोज़फ़ीन तेज़ी के साथ अपने कमरे से निकल कर सिंग के कमरे में दाख़िल हुई। वहाँ दोनों में थोड़ी देर कुछ बातें हुईं। बाहर सिर्क बोलने की दबी आवाज़ सुनाई पड़ती थी। नौकर लोग वहाँ से ज़रा दूर हट गए थे।

मिस जोज़फ़ीन ने कमरे में घुसते ही देखा कि सिंग साहब एक अजीब डरावनी सूरत लिए, डूँसिंग गाउन पहिने, एक आराम कर्सी पर लेटे हुए हैं।

“क्या आपको ब्रख़ार हो आया है ?” जोज़फ़ीन ने पूछा।

“किसी क्रूर,” जवाब मिला।

“आपको तो बिस्तर पर लेट जाना चाहिए।”

“बिस्तर ?”

“ज़रूर।”

“और तुम मेरे पास बैठ कर मुझे सुला दोगी ?”

“क्यों नहीं—अगर आप कहें तो, ये तो मेरा फ़र्ज़ है।”

सिंग साहब कुर्सी से उठ अपने पलंग पर जा लेते। जोज़फीन भी उस कमरे में जाकर एक स्टूल पर उनके पलंग के पास बैठ गई। और उनके माथे को दबाने लगी।

मिस्टर सिंग बहुत बेचैन थे। वह करवटें बदल रहे थे और आँखें उनकी लाल सुख्ख थीं। जब उनकी पीठ थोड़ी देर जोज़फीन की ओर होती तो वह उनके कंधे पर ही आहिस्ता-आहिस्ता थपकियाँ देती। कोशिश थी कि उन्हें नींद लग जाए।

सहसा जोज़फीन के हाथ को माथा बहुत गरम लगा। उसने पूछा :
“क्या आपको हाइ टेम्परेचर होगया है ? देखूँ ? आपके पास थर्मामीटर है ?”

“हाँ। उस ड्रायर में है। लोगी ज़रा ?” कहकर भीतर वाले कमरे की मेज़ की ओर उन्होंने इशारा किया। जोज़फीन थर्मामीटर लेने जैसे ही उठकर दूसरे कमरे में मेज़ के पास पहुँची सिंग बड़ी फुर्ती के साथ दबे पैर अपने पलंग से उठ बाहर वाले दरवाज़े को बन्द कर, फिर लेट रहे। मिस जोज़फीन की पीठ अब भी इसी ओर थी।

बुखार मरीज़ को १८° निकला !

जोज़फीन ने कहा : “आपको बुखार तो नहीं है। लेकिन बदन काफी गर्म है।”

“आय एम ए हॉट-ब्लडेड ऐनिमल,” सिंग ने कहा।

जोज़फीन हँस पड़ी।

“क्या आपका बदन हमेशा इसी तरह गर्म रहता है ?” उसने पूछा।

“अक्सर।”

“क्यों ? क्या वजह ? डॉक्टर को क्यों नहीं दिखलाते ?”

सिंग बड़ी फ़ुर्ती से उठकर पलंग पर बैठ गए। जोज़फ़ीन का हाथ पकड़ कर बोले :

“तुम्हीं तो मेरे मसीहा हो।”

जोज़फ़ीन अब भी बात को समझ न सकी थी। बोली :

“डोन्ट बी सिली, मिस्टर सिंग। इम नो डॉक्टर।”

मिस्टर सिंग पर अब भूत सवार हो चुका था। वह पलंग के बाहर कूद पड़ा। उसने अपना गाउन उतार कर दूर एक कुर्सी की ओर फेंक दिया, और लपक कर जोज़फ़ीन को अपने पलंग पर ज़ोर से पटकते हुए कहा :

“अब तो तू मेरी है।”

जोज़फ़ीन ने गिरते गिरते देखा कि यह शख्स सिर्फ़ एक जाँघिया बतौर अन्डर-वेयर के, पहने हुए है। उसका हाथ बिजली की तेज़ी के साथ उस चाकू पर जा पहुँचा जो वह अब कुछ दिनों से अपनी कमर में कपड़ों के भीतर छिपाए रखती थी। जैसे ही जोज़फ़ीन की पीठ पलंग से लगी उसके हाथ का चाकू इक्वारगी सिंग के गले पर जा पहुँचा !

“बदमाश, तू मुझे रंडी समझता है ! बोल—कर दूँ ख़त्म तुझे ?” बहुत सचेत भाव से जोज़फ़ीन अब बोल उठी।

सिंग के पैर तले की ज़मीन खिसक गई। जोज़फ़ीन के लम्बे, तेज़ चाकू ने, जो अपनी जगह पहुँच चुका था, सिंग के भूत को भगा। उसके होश को वापस लाने में बहुत कमाल दिखलाया। सिंग का गर्म खून एकदम ढ़ण्डा पड़ गया। उसे पसीना छूट गया। उसकी छाती दहल गई। उसका सारा अन्दाज़ ढ़ालत निकला। मिस जोज़फ़ीन अपने अङ्ग अङ्ग को सगाती, लोगों को ललचाती, बेवकूफ़ों को लट्ठ बनाकर

उनसे प्रेजेंट भी हथियाने में वह अपने अभिमान की कोई हानि न समझती। किन्तु वह अपने अङ्ग का सौदा नहीं करती थी। उसे उचित, अनुचित का पूरा ज्ञान था। वह उस वातावरण में पली थी जिसमें उसके माँ-बाप ने अपने बच्चों को यह सिखलाया था कि “अपन लोग काले चमड़े वालों से हर बात में ऊँचे हैं। काले लोग गोरों की (माँ तो जोज़फ़ीन की सौवली ही थी, लेकिन गोरे अङ्गरेंज की काली बीबी भी गोरी ही कहलाती है) न शिक्का, न तहज़ीब, न सेहत, न आदर्श—किसी बात में बराबरी नहीं कर सकते। कभी कभी झूठी डींगें भी अच्छा असर कर जाती हैं। अतएव जोज़फ़ीन पर तो उसके माता पिता के इस मिथ्या विश्वास का परिणाम उसके लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ था। इसी शिक्षा के कारण आज सिंग के मुँह पर मिस जोज़फ़ीन ने ऐसा करारा तमाचा लगाया कि वह इस धारणा को एकदम छोड़ ही बैठा कि ये एंग्लोइंडियन लड़कियाँ बहुत आसानी से काले लोगों को उनके मन बहलाव के लिए मिल सकती हैं

“फ़र्गिन्ह मी, जोज़फ़ीन। इम अशेम्ड ऑफ़ मिसेल्फ़,” सिंग गिड़बिड़ाया।

जोज़फ़ीन उस कमरे से निकल तेज़ी के साथ अपने कमरे में गई। उसने एक छोटा-सा लेटर टाइप किया, और टाइप राइटर का ढक्कन बंद करके फिर दुबारा उसी तेज़ी के साथ बरामदे की उस खिड़की के पास आ खड़ी हुई जहाँ से वह सिंग को कुछ सुनाकर कह सकती थी।

“गुड ईवनिंग, मिस्टर सिंग। इल बी ए लिटिल लेट टुमॉरो।”

दूसरे रोज़ मिस जोज़फ़ीन करीब एक बजे आई और टाइपिंग के काम में मशगूल हो गई। आज बँगले से इसे लंच नहीं मिला। मिस

जोज़फ़ीन जब शाम को घर जाने से पहले बाथ रूम गई तो उसे ऐसा जान पड़ा कि अब सिंग जरूर कोई कमीनी हरकत करके उसे फँसाने की कोशिश करेगा। जोज़फ़ीन स्वभाव से साहसी थी। “देख लूँगी मैं भी,” उसने मन में कहा।

जैसे ही जोज़फ़ीन बाथ रूम से निकल कर अपने कमरे में जाने लगी महमूद बावर्ची कमरे से बाहर निकला। जोज़फ़ीन इसे खूब जानती थी। उसे महमूद की खुशामदाना आदतों से कुछ दिलचस्पी थी, पृष्ठ बैठी :

“कहो महमूद मियाँ क्या बात है ?”

“कुछ नहीं, मेम साहब। यों ही ज़रा चाकू की ज़रूरत थी। मुझे मिला नहीं।”

“क्यों ? हमारी मेज़ पर तो है—आओ मैं देती हूँ।”

“रहने दीजिए; फिर लेलूँगा,” कहते हुए महमूद वहाँ से खिसक गया।

जोज़फ़ीन अपना ब्रेनिटी बेग उठा, बाइसिकिल पर सवार हो, घर जाने लगी। सिंग ने अपने कमरे से बाइसिकिल के चलते हुए पहियों को क्रोटन की कतार में से देख समझ लिया कि जोज़फ़ीन घर जा रही है।

“हलो !” सिंग ने बड़े तपाक से आवाज़ दी।

“हलो !” जोज़फ़ीन ने जवाब दिया।

मिस्टर सिंग ने ठान ली थी। अब तो वह जोज़फ़ीन को मिट्टी में मिलाकर ही छोड़ेगा। अपने बहादुर बावर्ची महमूद मियाँ को मिलाकर चक्र रचा गया। थोड़ी देर की ग़ैरहाजिरी से फ़ायदा उठाकर महमूद मियाँ ने अपनी मालकिन का सोने का द्वार मिस जोज़फ़ीन के कमरे

में घुस कर उसके व्हेनिटी बेग में रख दिया था। मालिक ने महमूद मियाँ को खूब लालच दे रखा था। “अगर तू यह काम कर देगा तो तुझे २००) इनाम दूँगा,” सिंग ने कहा था। महमूद मियाँ की राल टपक पड़ी। जवाब में बोला : “हुज़ूर क्या छोटे मुँह बड़ी बात करूँ ? यह तो मेरे बाएँ हाथ का खेल है, आप देखते रहिए मैं किस सफ़ाई से काम करता हूँ।”

दूसरे दिन मधेरे ही सिंग साहब ने थाने पर जाकर यह रिपोर्ट लिखवा दी कि उनके घर से कल उनकी बीवी का सोने का हार गायब है। और उनका शक मिस जोज़फ़ीन पर है। दारोगा ने फौरन जोज़फ़ीन के घर की तलाशी ली। एक सोने का हार उसके व्हेनिटी बेग में से बरामद हुआ। जोज़फ़ीन गिरफ़्तार हो गई, और बाद में अपने पड़ोसी मिस्टर डेविड की ज़मानत पर छोड़ी गई।

शहर में खूब सनसनी फैल गई। एंग्लोइंडियन लोगों में तो एक ख़ासा ‘सेनसेशन’ था। लोगों में कई किस्म की बातें हो रही थीं। कोई कहता यह बड़ी ही चरित्रहीन लड़की है। कोई कहता कि सिंग बड़ा नीच है, इसी ने यह जाल रचा है। लड़की तो हीरा है, हीरा। बाप इसका एक ख़ानदानी अँग्रेज़ था।”

दिन बीतते देर नहीं लगती। वह दिन आ ही गया जिस रोज़ इस मुक़द्दमे की पेशी मैजिस्ट्रेट के कोर्ट में हुई। लोगों की भीड़ लगी थी—इस दिलचस्प किस्से को सुनने के लिए। कॉलेज और स्कूल के कई विद्यार्थी लोग मिस जोज़फ़ीन की शक्ल से अपनी आँख सेकने की गरज़ से ही आए थे। मुक़द्दमा निकला। कोर्ट के चपरासी ने मुलज़िमा को पुकारा : “मिस जोज़फ़ीन हाज़िर है ! करतार सिंग हाज़िर है !” दोनों हाज़िर थे; अपनी अपनी जगह जा खड़े हुए—

मिस्टर सिंग, विटनेस बॉक्स में और मिस जोज़फ़ीन प्रिजनर्स बॉक्स में।

मुकद्दमा शुरू हुआ। पुलिस की तरफ़ से पहिला गवाह तो खुद करतार सिंग ही था। मिस जोज़फ़ीन से पूछा गया कि उसका कोई वकील या बैरिस्टर है जो कि उसकी तरफ़ से पैरवी करेगा। उसने जवाब में कहा:

“नहीं, मैं खुद कुछ कहूँगी और पूछूँगी—अगर कोर्ट मुझे इजाज़त देगी तो।”

मैजिस्ट्रेट ने अपना चश्मा इतमीनान के साथ जमाते हुए कहा:

“ज़रूर, ज़रूर; आप इन्हें क्रॉस इक्ज़ामिन कर सकती हैं।”

“मैं अभी कुछ न पूछूँगी। लेकिन, अगर आगे चलकर मुझ पर चार्ज लगा दिया जाएगा, तो मैं अपना हक़ कोर्ट से माँग लूँगी।

मैजिस्ट्रेट ने आगे बैठे हुए बहुत से बैरिस्टर, वकीलों की तरफ़ देखकर कहा:

“ए व्हेरी इन्टेलिजेन्ट एक्ज्यूस्ट।”

सारे कोर्ट में लोग एक दूसरे की ओर देखने लगे। कई अपने पास खड़े हुए लोगों के कान में धीरे से पूछने लगे: “क्या कह मैजिस्ट्रेट ने अज़रेज़ी में?” काना-फूसी के शोर को बन्द करने की गरज से मैजिस्ट्रेट ने “श-श-श-श!” का इशारा किया। सब चुप हो गए।

पुलिस के तीन गवाह लिए गए—करतार सिंग, महमूद मियाँ, और खुद तक्रतीश करने वाले इन्स्पेक्टर, मिस्टर अब्दुर रहमान। कोर्ट ने मिस जोज़फ़ीन पर चार्ज लगाया और पूछा:

“अब तुम अपनी सफ़ाई देना चाहती हो?”

कोर्ट में सन्नाटा छाया हुआ था। सब लोग मुलज़िमा की ओर अपने अपने कान लगाए हुए थे कि सुनें यह क्या कहती है। जोज़फ़ीन

ने, अपना चेहरा रुमाल से पोंछते हुए, बड़े सुन्दर ढंग से, धीमी आवाज़ में, कहा :

“जी नहीं।”

“सोच लो। मामला बहुत सीरियस है। क़ानून आपको सफ़ाई पेश करने का यह मौक़ा देता है। आप इस मौक़े से फ़ायदा उठा सकती हैं,” मैजिस्ट्रेट ने अपना चश्मा आँख पर से उतार उसे रुमाल से पोंछते हुए कहा।

“बहुत धन्यवाद,” जोज़फीन ने अज़ किया; “लेकिन मैं सफ़ाई न दूँगी। इसकी मुझे तो अभी कोई ज़रूरत नहीं मालूम पड़ती। लेकिन मैं कोर्ट से यह इलतिज़ा करती हूँ कि मुझे पुलिस के गवाहों को—यानी मिस्टर करतार सिंग, महमूद मियाँ और इन्स्पेक्टर अब्दुर रहमान को फिर से क्रॉस-इक्ज़ामिन करने का मौक़ा दिया जाए।

“बेशक, बेशक,” चश्मा फिर से नाक पर सवार हो गया, “यह आपका हक़ है।” कोर्ट ने ऑर्डर-शीट में इन तीनों गवाहों को फिर से क्रॉस-इक्ज़ामिनेशन के लिए बुलाए जाने की बात लिख दी। दूसरी पेशी हुई।

दूसरी पेशी में भीड़ और भी ज़यादा थी। मुलज़िमा आज खूब सज धज कर आई थी। उसके कपड़ों से लव्हेन्डर की तेज़ ख़शबू निकल कर कोर्ट रूम भर में फैल गई। उसके चेहरे से मालूम पड़ता था कि वह आज बहुत खुश है। उसके हाँठों पर एक हल्की मुस्कान खेल रही थी।

करतार सिंग आज विटनेस बॉक्स में बड़े परेशान नज़र आए। उनके खड़े होने के ढंग से यह साफ़ नज़र आता था कि उनकी हिम्मत आज कुछ ढीली पड़ चली है।

“पूछिये आप मिस्टर सिंग से जो पूछना चाहती हैं,” कोर्ट ने मुलज़िमा की ओर देखकर कहा।

“ज़रूर, अगर आप इजाज़त दें,” जोज़फ़ीन ने कोर्ट की ओर मुखातिब हो कहा; “मैं इनसे सिर्फ़ एक बात पूछना चाहूँगा।

“पूछिये,” करतारसिंग किसी क्रूर तेज़ी से बोल पड़े।

“बहुत खूब, जनाव करतारसिंग साहब, मुआफ़ कीजिये, मैं आपसे सिर्फ़ एक बात पूछना चाहती हूँ : आप मुझे सच्चा जवाब देंगे ?”

करतारसिंग ने जेब से रुमाल निकाल अपना चेहरा पोंछा। उसका मुँह सूखा जा रहा था। बोला :

“क्यों नहीं ? सच कहने से क्या कोई डरता है ?”

“हरगिज़ नहीं। आप मुझसे कुछ उम्मीद करते थे ?”

“मैं आपका सवाल समझा नहीं।”

“मैं और भी साफ़-साफ़ लफ़्ज़ों में अपना सवाल रखूँगी। मेरा मतलब यह है कि आपने मुझे किसी खास मतलब से अपना टायपिस्ट बना रखा था ?”

कोर्ट में हँसी की धीमी लहर एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ गई।

करतारसिंग बिगड़ पड़े। कोर्ट की तरफ़ देखकर बोले :

“क्या यह मेरी बेइज्जती करना चाहती है ? इसका इशारा किस तरफ़ है ?”

कोर्ट ज़रा मुसकुरा कर :

“मि० सिंग, आपको जवाब देना पड़ेगा—सवाल साफ़ हैं ? इसमें बेइज्जती की कोई बात नहीं।”

करतारसिंग मजबूर था। वह अपने चेहरे को रुमाल से पोंछते हुये बोला :

“मेरा कोई मतलब नहीं था सिवा इसके कि टाइपिस्ट अपना टाइपिंग का काम करे।

मिस जोज़फ़ीन इस जवाब को सुनकर बहुत खुश हुई। बोली :

“एक्सलेन्ट ! तो सिक्र टाइपिंग वर्क के मतलब से मुझे आपने रखा था ?”

“तो और किस मतलब से ?”

“मैं क्या जानूँ ? मैं तो आपसे पूछ रही हूँ।”

“तो मैंने भी आपको जवाब दिया। मैं आपके सवालों से मुँह तो नहीं मोड़ता हूँ।”

“गुड—व्हेरी गुड। आप बहादुर आदमी हैं। अब आप मुझे ज़रा यह बतायेंगे कि आपने मुझे कभी कुछ चीज़ें प्रेज़ेन्ट की थीं ?”

“हाँ की थीं। ईस्टर में चन्द चीज़ें मैंने आपको दी थीं।”

“बहुत अच्छा। ईस्टर प्रेज़ेन्ट ही सही। नवाज़िश है आपकी। लेकिन फिर मई की १२ तारीख को आपने मेरे कमरे में आकर मुझसे कुछ बेहूदा हरकत करनी चाही थी ?”

“सरासर झूठ—गन्दी झूठ।”

“फिर जून की २२ को आपने मुझे अपने कमरे में बुलाकर फिर मुझे अपनी बेहूदा हरकतों से परेशान करना चाहा ?”

“ऐसी चालाक बातों से तुम मुझे नहीं फँस सकोगी।”

“मुमकिन है। लेकिन आप भी मुझे आसानी से न फँसा सकेंगे, मि० सिंग। आपने मुझ पर झूठी तोहमत लगाई है।”

“ख़ैर, इन्साफ़ तो दूध और पानी अलग-अलग कर देगा।”

“इसी उम्मीद में तो मैं आपसे जिरह कर रही हूँ।”

“करिये न। आपको कौन ग़ो़कता है ?”

“मेरे पास और भी शहादत है।”

“शहादत ? तो पेश करिये—और कब यह शहादत काम आयेगी ?”

“ज़रा सब करें, मैं अभी पेश करती हूँ,” कह कर मिस जोज़फ़ीन ने एक कागज़ के टुकड़े पर, अपने जेब से फाउन्टेन पेन निकाल, उस पर यह लिखा :

“जून २२ को सिंग ने अपने कमरे में बुला जब मुझ पर बलात्कार करना चाहा, तब वह सिर्फ़ अन्डरवेअर पहिने थे। जाँघ उनकी खुली थी। उनकी दाहिनी जाँघ पर एक ज़र्रम का बड़ा-सा निशान है। आप जाँच कर सकते हैं कि मैं सच कह रही हूँ या झूठ।

जोज़फ़ीन”

पर्चा मैजिस्ट्रेट को दिया गया। मैजिस्ट्रेट ने जोज़फ़ीन की चिट पढ़कर मि० सिंग को अपने वेटिंग-रूम में बुलाया और पाँच मिनट बाद दोनों बाहर निकल आये। मैजिस्ट्रेट ने मुक़द्दमा फ़ैसले के लिये बन्द कर दिया। अभी तीन बजे थे। फ़ैसला पाँच बजे के लिये रखा गया।

कोर्ट में भीड़ डटी रही। मामला बड़ा सनसनीखेज़ था। जब पाँच बजकर पन्द्रह मिनट पर मैजिस्ट्रेट ने फ़ैसला सुनाया तो तमाम लोग दंग रह गये।

फ़ैसला संक्षिप्त में यों था :

“यह एक झूठा मामला है। करतारसिंह ने इस लड़की पर यह चोरी की झूठी तोहमत इस लिये लगाई है कि वह अपने गन्दे इरादों में कामयाब न हो सका। उसकी बुरी नज़र मिस जोज़फ़ीन पर थी; और

उसने २२ जून को ज़रूर इस लड़की पर हमला करना चाहा। लेकिन वह नाकामयाब रहा। यह सोने का द्वार करतार सिंग ने महमूद मियाँ की मदद से मिस जोज़फीन के व्हेविटी-केस में बरामद होने के एक रोज़ पहिले बड़ी सफ़ाई से बँगले में ही डाल दिया था।

“मिस जोज़फीन ने अपने बयान में यह कहा है कि करतार सिंग के दाहिने जाँघ पर एक ज़ख़्म का बड़ा निशान है। करतार सिंग की जाँघ देखी गई। वाक़ई उसकी जाँघ पर घाव का निशान पाया गया।

“इसमें कोई शक़ नहीं कि करतार सिंग मिस जोज़फीन को दुश्मनी की वजह फँसाना चाहता है।

“मैं मुलाज़िमा को रिहा करता हूँ। हार करतार सिंग को वापस दिया जाय। लेकिन इस मुक़द्दमे में जो ख़र्च मिस जोज़फीन को आया है उसका काम्पेन्सेशन रुपये ५००) करतार सिंग से वसूल किया जाये और वह रक़म बेगुनाह मुलाज़िमा को दी जाय।”

मिस जोज़फीन बॉक्स में निकल कर वहाँ आई जहाँ मि० सिंग खड़े थे—विटनेस बॉक्स के करीब ही। उनसे मुस्करोते हुए कहा: “मि० सिंग, क्या मैं अब भी अपनी टाइपिंग की ड्यूटी पर आ सकती हूँ?”

मि० सिंग ने बहुत झुँझलाकर कहा: “मुआफ़ कीजिए। आपसे अब मैं दूर ही रहना चाहता हूँ।”

लोगों की भीड़ हट चली। रास्ते में कई कह रहे थे: “सिंग बड़ा ही हराभी निकला। हम तो समझे हुए थे कि वह लाल मुँह वाली बदचलन है, पर बात तो उल्टी निकली।”

कुछ लोग कह रहे थे: “यार, उस गोरी लड़की ने क्या जिरह किया कि वकील बैरिस्टर भी उसके सामने झुक मारते हैं।”

स्वामी रामानन्द

दुई-गिर्द के चालीस, पचास गाँवों में स्वामी रामानन्द की कीर्ति का साम्राज्य फैला हुआ था। स्वामी जी के भक्त गणों में अधिकांश स्त्रियाँ ही थीं; वैसे तो पुरुषों में भी उनके शिष्यों की संख्या कुछ कम न थी; किन्तु पुरुषों में वह अनुराग, वह सहज श्रद्धा, वह भक्ति कहाँ जिसका स्तोत्र अबलाओं के हृदय में साधु संतों के प्रति अकारण सदा ही बहता रहता है।

स्वामी रामानन्द बनारस में कब और कैसे आए इसकी कहानी उसी कहानी में समाई हुई है, जिसे हम लिखने बैठे हैं।

करीब सात साल हुए, एक दिन संध्या समय लाला बलभद्र अपने बागीचे की ओर, शहर से करीब एक मील दूर, पैदल घूमने निकल पड़े। लालाजी ज़रा स्थूल शरीर धारण करते थे; अतएव, उनके डॉक्टर ने उन्हें यह सलाह दी थी कि शाम को मील-आध मील, शहर के बाहर, वे ज़रूर चलाफिर लिया करें, ताकि हाज़मा भी सुस्त रहे और शरीर की बेकाम चर्बी भी छूट जाय। नुस्खा जँच गया। लाला जी ने यह नियम ही बना लिया था; और, तदनुसार, वे प्रतिदिन, बारहों मास, चाहे जाड़ा हो या गरमी या बारिश, हाथ में अपनी चांदी की मूठ वाली मोटी लकड़ी ले, घर से बाहर ज़रूर निकल पड़ते।

लाला जी का बागीचा, कानपूरवाली सड़क पर बस्ती से करीब एक मील बाहर था, जिसमें श्रीरामचन्द्र जी का एक पुराना मन्दिर था। यह मन्दिर था तो छोटा, किन्तु बड़ा ही सुन्दर। भीतर, जिधर उधर

संगमरमर का काम बना हुआ था, और इसके चारों तरफ चौड़ा बरामदा था, जिसके फ़र्श पर भी क्रीमती सुकैद पत्थर लगे हुए थे; और दीवार तथा छत पर किसी चतुर चित्तेरे ने तैल के पौराणिक चित्र बड़ी कुशलता से खींचे थे। यह मन्दिर आम, अमरूद, नारियल, अशोक, जामुन, बरगद, आदि के पेड़ों के बीच बड़ा ही सुहावना लगता था। पास ही एक बड़ा कुँआ था, जिससे, मोट द्वारा, पानी सदा बहता रहता था; और, पक्की नालियों से गुज़रता हुआ, बाग़ के कोने-कोने में खेलता, नाना प्रकार के फल, फूल, साग, सब्ज़ी की क्या़रियों को हरी-भरी रखता।

इस सुन्दर स्थान में बना हुआ यह राम मन्दिर साधु-संतों के मन को लुभाता और बनिहर से गुज़रते हुए साधुओं को बरबस लाला बलभद्र का अतिथि बनने को मजबूर करता।

लाला जी के दादा, लाला मोतीलाल, के ज़माने से इस मन्दिर में सदाब्रत बटता, और दूध दही इत्यादि का भी अच्छा प्रबन्ध रहता। इस मन्दिर की महिमा तमाम कानपुर ज़िले में फैली हुई थी।

लाला जी आज शहर से कुछ दूर निकल पड़े थे। लौटते समय उन्हें सहसा लगा मानों छुटनों में ज़रा भारीपन उतर आया है। थकावट भी आ चली थी। एक पुलिया पर थोड़ी देर बैठ गए, ताकि फूली साँस छूट जाय। अभी उन्हें बैठे बमुश्किल पंद्रह मिनिट हुए होंगे कि दूर सड़क पर एक आदमी नज़र आया। लाला जी उसी ओर देखते रहे। उन्हें ऐसा लगा कि वह आदमी उन्हीं की ओर चला आ रहा है; और, ज़रा करीब आने पर लाला जी ने देखा कि वह कोई भगवा कपड़ा पहिने हुए साधु है, जिसके पैरों में खड़ाऊँ, सर पर जटा, गले में रुद्राक्ष की माला, हाथ में कमंडल, बगल में मृगछाला और कंधे पर एक लंबी सी झोली लटकी हुई है।

लाला जी के स्वभाव में साधु-संतों के लिए बड़ी ही श्रद्धा थी। कभी कोई याचक उनके द्वार से उनकी उदारता का यथेष्ट परिचय पाये बगैर न गया।

जब वह साधु लाला जी के बिलकुल करीब पहुँचा तो लाला जी की पीठ अपने हाथ से सहलाते हुए, मुस्कुरा कर बोला :

“कहिए, आर्य, आप यहाँ इस समय अकेले कैसे बैठे हैं ?”

लाला जी उठ खड़े हुए। बड़ी नम्रता से सिर झुका कर साधु के चरण नृत्यते हुए बोले :

“कुछ नहीं, योगिराज; योही घूमते घूमते थक गया था। बैठ कर ज़रा सुस्ता लिया। कहिए, आप का आना कहाँ से हुआ और कहाँ जा रहे हैं ?”

योगिराज का हाथ अभी लाला जी की पीठ पर ही था। वे बड़े प्रेम से बोले:

“हमारा आना-जाना क्या, आर्य ? हम तो रमते राम हैं। आज यहाँ, कल वहाँ। चला आ रहा हूँ सेमरिया से। टिक रहूँगा रात किसी मन्दिर में। बनहर में अवश्य कोई स्थान होगा जहाँ साधु-संतों को रात भर के लिए विश्राम मिल सकेगा।”

“अवश्य, अवश्य, योगिराज,” लाला जी बड़े भक्ति-भाव से बोले। “यहाँ से करीब आध मील पर, इसी सड़क के किनारे, आप के दास की एक छोटी-सी बगिया है। उस बगिया में श्री रामचंद्र जी का एक छोटा-सा मंदिर है। वहाँ संतों के ठहरने के लिए यथायोग्य सुविधा है। आप वहाँ चलकर ठहरिए और अपने दास को कृतज्ञ कीजिए।”

योगिराज ने मुस्कुरा कर कहा:

“आप के मन में साधुओं के प्रति प्रेम है—श्रद्धा है। आप के संस्कार और आप की शिक्षा दोनों आप के माता पिता के उच्च आदर्शों के सूचक हैं। मैं बड़ा प्रसन्न हुआ कि इस नगर में आप जैसा दया-धर्म को माननेवाला पुण्यात्मा रहता है। चलिए, मैं आप की ही बगिया में चल कर रात टिक रहूँगा।”

लाला बलभद्र के मन में दया का श्रोत फूट पड़ा। योगी राज के साथ गाँव की ओर चलते चलते बोले :

“मैं आपके दर्शन कर बड़ा ही सुखी हुआ। मैं आपको किस शुभ नाम से पुकारूँ ?”

योगिराज हँस पड़े, कहने लगे:

“नाम, आर्य ? योगियों का क्या नाम ? हाँ अलगाह, लोग मुझे स्वामी रामानन्द कह कर पुकारते हैं।”

स्वामी रामानन्द उस रात लाला बलभद्र के बागीचे में ही रुहरे; और रात भर में स्वामी जी के मन का उस मन्दिर में स्थापित श्री रामचन्द्र जी की सलोनी मूर्ति ने ऐसा लुभा लिया कि वे सात साल बड़े मजे में वहीं अपना डेरा डाले रहि; और बनारस की प्रजागण को अपने सरल प्रेम से मुग्ध कर, स्वामी जी ने उनके हृदय में अपने प्रति असीम भक्ति, आदर, तथा श्रद्धा को जगाया।

स्वामी रामानन्द जिस समय बनारस पहुँचे थे उनकी आयु लगभग तीस वर्ष की थी ; और आज भी उस बात को हम सात ही साल पुरानी कर सकते हैं: यानी , अब भी, रामानन्द जी की आयु लगभग सैंतीस वर्ष की ही थी।

क्रद के ऊँचे, रंग सँवला, बड़ी बड़ी आँखें, बदन गठीला, स्वामीजी की ज़बान में जादू था। लोगवाग उनसे आध घन्टे मिल कर इतने

प्रवाहित हो जाने कि उनके पास से उठ कर जाने को जी न करता था ।

स्वामी रामानन्द जी का चरित्र, उनका धर्मज्ञान, और उनकी व्यवहार कुशलता की प्रशंसा दूर दूर तक फैल गई; और ज्यों ज्यों उनकी प्रतिष्ठा बढ़ती गई त्यों त्यों लाला बलभद्र की योगिया का राम मन्दिर छोटे मोटे, रमते योगियों के टिकने का स्थान न रह सका । वहाँ तो रामानन्द जी के तेज के सामने कोई ढोंगी पल भर भी न टिक पाता: अतएव अब बनिहर भर में केवल रामानन्द जी की धाक जमी थी । और लोगों में उनकी अदभुत शक्ति के विषय में कई किस्म की चर्चा थी ।

पहले-पहल तो गाँव भर में यह बात मान ली गई थी कि रामानन्द जी बड़े पहुँचे हुए पुरुष हैं, जो संसार के पाखंडों से दूर, किन्तु संसार के बीच में रह कर ही परमार्थ सिद्ध करने का साधना को योगियों का उच्च आदर्श मानते हैं । दुनिया से दूर, एकान्त में बैठ कर, शरीर पर केवल राख मल कर, या भगवा वस्त्र धारण कर आत्मा परात्मा को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता । योगिराज का यह दर्शन लोगों को खूब जँचा : और तमाम गाँव रामानन्दजी की स्तुति गाने लगा ।

कुछ माह हुए स्त्रियों में यह चर्चा भी फैल गई कि स्वामी जी कुछ चमत्कार दिखा देने की शक्ति भी रखते हैं । और उनके आशीर्वाद से बाँझ स्त्रियों को सन्तान प्राप्त हो सकती है ! पहले पहल तो स्वामी जी की यह करामात अक्रवाह की शक्ल में ही स्त्रियों की ज्ञान पर चढ़ी; किंतु जल्द पुरुषों से भी स्वामीजी का यह नया क़रिश्मा न छिप सका । अब क्या था ? गाँव भर में ही नहीं, बल्कि इतराक्त के पाँच पन्चसक़स्वों में भी यह खबर फैल गई कि बनिहर के योगिराज, रामानन्द, बड़े पहुँचे हुए माधु हैं; और उनके पास ऐसी दिवी शक्ति

है कि वे लोगों की मनोकामनायें अपने योग-बल से पूरी कर सकते हैं।

लोगों का ताँता बँधा रहता स्वामी जी के दर्शनार्थ श्रीरामचन्द्रजी के मन्दिर के बाहर और कभी कोई—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, दरिद्र हो या धनवान—उनके पास से, अपना दुखड़ा सुनाकर, निराश घर न गया।

लाला बलभद्र तो स्वभाव से ही साधु-सन्तों के लिए बड़े श्रद्धालु थे, उनका तो नित्य का नियम ही था जब सन्ध्या को वे घूमने निकलते तो लौटते समय बागीचे में जा स्वामी जी के दर्शन करते, उनके पास घंटे आध घंटे बैठ कर सत्संग का लाभ लेते और तत्पश्चात् उठकर बड़े ही विनयपूर्वक, चरण छू, उनका आशीर्वाद लेते और घर वापस लौटते। लाला जी ही नहीं, उनके घरके प्रायः सभी लोग राम-मन्दिर में बसने वाले रामानन्द महाराज के दर्शन के बड़े इच्छुक रहते और भेंट में हर तरह की क्रीमती चीज़ें नैवेद्य के रूप में चढ़ाते। स्वामीजी उन भाग्यवान पुरुषों में थे कि जिनके पीछे ऋद्धि-सिद्धि दौड़ती हैं और जिन्हें संसार में कभी किसी बात की कमी नहीं है। बड़े तप से—पूर्व जन्म के किए हुए पुण्यों के बल से ही यह सौभाग्य किसी बिरले पुरुष को प्राप्त होता है; अतएव उन बिरले पुरुषों में बनिहर के रामानन्दजी की गणना होने लगी।

गाँव में एक प्रतिष्ठित सेठ रहते थे—सिधई गोकुलचन्द। ज्ञात के बनिया थे। पिता ने जापानी सूत, रेशम के व्यापार में लाखों कमाया था। चार साल हुए अकस्मात् दिल की रफ्तार यकायक बन्द होजाने के कारण उनकी मृत्यु लक्ष्मी पूजा के दिन होगई थी। वह दीवाली उस परिवार के लिए बड़ी ही दुखदाई रही। अतएव सदा के लिए दीवाली में उस घर पर शोक छाया रहता। मरने समय अपने इकलौते

मुत्र, गोकुलचन्द को पंद्रह लाख रुपए नक़द और ज़ेवर-ज़मीन मिला कर कुल जायदाद बाईस लाख रुपए की छोड़ गए ।

गोकुलचन्द सिंघई की आयु अभी तीस के लगभग थी । शादी तो पिता ने उसकी जब वह पंद्रह साल का भी न हो पाया था कर दी थी । गौना आये पूरे बारह साल हो चुके थे, किन्तु उस ग़रीब के कोई संतान न थी । सदा तरसता, और उसकी स्त्री गौरी तो पूजा-अनुष्ठान करते-करते निराश हो चुकी थी ।

स्वामी रामानन्द की कृपा की अभिलाषा का इस परिवार के मन में उदय होना स्वाभाविक ही था । पति-पत्नी दोनों राम मन्दिर में सदा जाते और संतान प्राप्ति की याचना स्वामी जी से करते । एक रोज़, जब वसन्तराज बड़ी अठखेलियों से इस बाग़ीचे में फूल, रंग और पराग की भीनी सुगंध ले उतर पड़े, स्वामी जी से गोकुलचंद ने, जो अपनी स्त्री सहित उनसे मिलने आया था, अपने मन की इच्छा प्रकट करते हुए कहा :

“स्वामी जी आप तो घट-घट की बात जानते हैं, मैं और मेरी स्त्री, इतना धन-रहते हुए भी, बड़े दुःखी हैं । हमारे कोई संतान नहीं, बारह वर्ष हो गए । अब कोई आशा भी न रही । आप की कृपा इस दास पर हो तो, मैं अवश्य उस सुख को प्राप्त हो सकता हूँ । आप तो सब को सुखी बनाते हैं । क्या इस दास पर आप की कृपा न होगी ?”

स्वामी रामानंद गाँजे की विशाल चिलम उठा अपने मुँह को लगाते हुए, मुस्कराकर बोले :

“कुखी न हो, आर्य; इस संसार में ऐसी कौन सी वस्तु है जो यथा योग्य साधन से मनुष्य को प्राप्त नहीं हो सकती ?”

गोकुलचंद स्वामी जी की ओर एक टक देख रहे थे, ज़रा आगे को खिसक कर, कुछ आहिस्ते स्वर में बोले:

“अवश्य, अवश्य, स्वामी जी आप सत्य कहते हैं।”

स्वामी जी ने इस समय एक ज़ोर का कश लिया और, अपने गयनों से बहुत गाढ़ा धुआँ ऊपर की ओर छोड़ते हुए, वह बोले :

“निराश न होना चाहिए। मनुष्य का धर्म है कि वह उचित प्रयत्न करता रहे। संसार में प्रयत्न ही बड़ी शक्ति है।”

गोकुलचंद की स्त्री, गौरी, जो एक ओर अपने पति की पीठ से कुछ छिपी-सी बैठी थी, बड़ी चतुराई से आगे खिसक आई। बड़े स्निग्ध स्वर में बोली:

“स्वामी जी, प्रयत्न तो अब आप के द्वारा ही संभव है। हम तो प्रयत्न करके हार गए। आप जैसा कहें हम लोग करने को तैयार हैं। आपकी दया चाहिए, प्रभु।”

“दया ? कैसी बातें करती हो, देवी ? हमारी दया तो प्राणी मात्र पर है। दया साधु का सच्चा लक्षण है। वह साधु कैसा जिसके हृदय में दया नहीं ?”

गोकुलचंद रामानंद स्वामी की इस बात पर झूमने लगे। स्वामी जी के चरणों को छू कर बोले:

“आप के पास दया है, योगिराज; आप के पास वह शक्ति भी है जो दया मात्र से किसी को नहीं मिल सकती।”

स्वामी जी ने चिलम नीचे, ज़मीन पर, कमेंडल के सहारे टिका दी, और, आसन पर कुछ हिल डोल कर कहा:

“तुम न चिन्तित हो, आर्य। मैं योग्य प्रबंध करूँगा। ईश्वर की इच्छा हुई तो तुम दोनों की अभिलाषा पूर्ण होगी। वही सदा का कर्ता वर्ता है। मनुष्य तो निमिरा मात्र है।” ज़रा गौरी की ओर देख कर—

“मैंने तुम्हारी कुँडली देखी है। तुम्हें अवश्य पुत्र होगा। निराश होने का कोई कारण नहीं। मैं नक्षत्रों को गणित से और देख कर विचार करूँगा कि आगे किस उपाय से काम किया जाय।”

उसी रात्रि गोकुलचंद अपने पलंग पर बेचैन पड़े पड़े विचार में मग्न थे, पास ही उनकी स्त्री, गौरी, अपने पलंग पर बैठी बैठी अपने पति के लिए गुलूबन्द बुन रही थी। सहसा गोकुलचंद गौरी की ओर करवट लेते हुए बोले:

“क्यों जी तुम्हारा क्या खयाल है स्वामी जी के लिए? मुझे तो आज उनका रंग ढंग, उनका कनखियों से तुम्हारी ओर बार बार देखना, उनकी आँखों की चुलबुलाहट—यह सब अजीब से दिखाई दिण। मुझे तो अब ज़रा शंका हो चली है कि इस मामले में उनकी सलाह कहाँ तक निःस्वार्थ और धार्मिक है।”

गौरी अपनी सलाइयों को झट दूर फेंक, तमक पड़ी:

“पूँ, कैसी बातें करते हो? साधु-संतों के शुद्ध आचरण में कभी शंका नहीं करना चाहिए। विश्वास से ही फल मिलता है। जहाँ विश्वास नहीं वहाँ क्या धरा है?”

“नहीं, गौरी, मेरा यह मतलब कदापि नहीं,” गोकुलचंद ने कहा। “मैंने कुछ रोज़ हुए मनोहर की दूकान पर यह सुना था कि स्वामी जी बड़े गहरे पुरुष हैं: अभी उन्हें लोगों ने भली भाँति न समझ पाया है। वे निरे साधु नहीं हैं.....”

गौरी और तमक उठी।

“रहने भी दो। ऐसी निकम्मी बातें करते लोगों को शरम नहीं आती,” वह बोली। “योगिराज इस गाँव में पिछले सात साल से बसे हैं। कभी किसी ने उनके बारे में ऊँची-नीची बात सुनी है? लोगों को क्या?

जबान हिलाते रहते हैं। वे क्या पहुँचे हुए पुरुषों को समझें जो स्वयं गिर रहे हैं ?”

गोकुलचंद फिर दुबारा दीवार की ओर करवट बदल कर सोने की कांशिश करता। गौरी भी अपनी सलाई उठा फिर उसी उधेड़बुन में लग गई थोड़ी देर बाद पतिराज की खुर्राटे सुन कर उसे इतमीनान हो गया कि वे गहरी नींद में हैं; आप ही आप बड़बड़ाने लगी :

“हाँ, चले किसी को ऐसा वैसा कहने। लगता ही क्या है—न हरड़ न फिटकरी। अपने से तो कुछ बनता-जनता नहीं, और चले साधु-संतों पर टीका करने।”

गौरी सब प्रयत्नों का अवलम्बन लेकर हार चुकी थी। अब तो वह अधीर हो उठी थी। उसे संतान की प्रबल इच्छा ने विचलित कर दिया था। उसे भले-बुरे का ज्ञान अब न रहा। वह तो तुल गई थी कि चाहे जिस विधि से हो उसकी गोद शीघ्र भर जानी चाहिए। जीवन में बाँझ का स्वागत तिरस्कार और अमंगल-सूचक शब्दों से ही किया जाता है। समाज में उसके प्रति सहानुभूति, दया, प्रेम, न्याय—यह सब ऐसा असंभव हो जाता है जैसे पापियों के लिए स्वर्ग का सुख।

गोकुलचंद गौरी की मवृत्तनोत्ति को देख कर समझ गए कि अब उसे उस पथ पर से मोड़ना सहज नहीं जिस पर वह तेज़ी से आगे बढ़ी चली जा रही थी। स्त्रियों को, प्रथानुसार, अबला कह कर सम्बोधित किया जाता है। किंतु बुद्धिमान पुरुषों ने पक्षपात रहित यही निर्णय दिया है कि, अनेक प्रसंगों पर, अबला सबल पुरुषों से अधिक सबल तथा साहसी बनकर, विवेक, धर्म, मर्यादा का तिरस्कार करते हुए, ऐसी निर्दयता से काम कर बैठती है जो प्रायः पुरुषों के अनुमान के बाहर है।

गौरी ने स्वामी रामानंद का सुझाया हुआ मंत्र बेझिझक स्वीकारा। उसकी बारह साल की मनोकामना पूरी हुई। लक्ष्मी पूजा के दिन

उसके एक पुत्र जन्मा । जो लक्ष्मी पूजा, गोकुलचंद के पिता की मृत्यु के पश्चात्, आज तक न मनाई जाती थी, आज फिर बड़े आनंद से वह मनाई गई। गोकुलचंद बहुत प्रसन्न हुए; अपनी स्त्री की प्रसूत-शय्या के निकट तीसरे दिन जा, नवजात शिशु का मुँह देख कर, बोले:

“गौरी, यह तो बड़ा सबल और तेजस्वी बालक दिखाई देता है। इसकी आँख, नाक, रंग, रूप तो स्वामी जी जैसे ही है। बारह साल में हुआ, किंतु इस बालक ने अपने घर में एक ज्योति जगादी जो एक युग से बुझी पड़ी थी।”

गौरी बहुत निर्बल थी। उसका स्वर्ण जैसा पीला रंग उसके सहज सौंदर्य को और भी उभार रहा था। बड़े तीखे स्वर में बोली :

“तुम्हें शरम नहीं आती। स्वामी जी पर जब देखो तब व्यंग्य कसते रहते हो। बालक ईश्वर देता है या निगोड़े मनुष्य ? बच्चा सबल और सुंदर है तो उसकी माँ को क्या तुमने निर्बल और कुरूप देख कर व्याह लाया था ? बातें करते हो मानों होश में नहीं। मुझे ऐसी बातों से घृणा है। कोरे मुँह देख कर लगे करने बातें। दिया होता आज बच्चे के हाथ में कुछ चाँदी-सोना—अपने पिता का नाम जगाया होता। फिज़ूल की बातें क्यों बनाते हो ?”

गोकुलचन्द अपनी स्त्री के आगे चुप रहने वालों में न था। अपनी बीवी की थपेड़ खाकर, वह और शरारत की सोचता :

“क्यों, गौरी, मैं एक बात पूछूँ ? यह विधि स्वामीजी ने तुमसे कब कराई थी ? भई, हम मान गए। हैं वे अवश्य पहुँचे हुए पुरुष।”

“देखो जी, मैं कहे देती हूँ चुप रहो, वरना मैं कुछ कह बैटूँगी। आज तुम्हें यह क्या सूझी है ? इतने दिन तो तरसते, रोते गए। अब मिला बच्चा तो चले आँख गाड़ कर देखने कि किसके जैसा है, किसने

दिया, कब दिया, कैसे दिया। ईश्वर की अवहेलना करते तुम्हें लाज आनी चाहिए।”

गोकुलचन्द हँस पड़ा; वह यह कहते हुंए वहाँ से दूसरे कमरे में चला पड़ा :

“बड़े मजे का ईश्वर है—बारह साल बाद दिया तो लाला बलभद्र की बगिया में !”

गोकुलचंद के यहाँ तो अब मंगल ही मंगल था। पैसा तो भरपूर था ही। एक बालक की कमी थी, वह भी अब पूरी हो गई। स्वामी रामानंद का चमत्कार तो लोगों में हमेशा चर्चा का विषय बन बैठा।

लाला बलभद्र के बेटे बैजनाथ का गौना आणू पूरे बारह माह न हुए थे। ललाइन को अपनी बहू की गोद जल्द भरते देखने की अभिलाषा, गोकुलचंद के घर का वाकया सुन, प्रबल हो उठी।

स्वामी जी से बात छिड़ी। गौरी के पुत्र होने के ग्यारह माह के भीतर दूसरा चमत्कार होने जा रहा था।

बैजनाथ की उम्र अभी पच्चीस साल की थी। उसकी स्त्री जमुना बड़ी ही भली लड़की थी। देखने में बड़ी सुन्दर, शील-स्वभाव से बड़ी ही लज्जालु। न मालूम क्यों, उसकी सास, उसे अभी अपने घर आणू पूरे अठारह माह भी न होने पाए थे कि, अधीर हो बैठी। स्वामी जी के पास एक रोज़ अपनी बहू को लेकर गई और उनसे बोली:

“स्वामी जी, मेरी बहू जमुना के लिए भी आपको कुछ प्रयोग करना होगा। इसके संतान नहीं। बेचारी तरसती रहती है। आप ने गौरी पर बड़ा उपकार किया। मेरी बहू पर भी दया कीजिये। आप ही के किये कुछ होगा।”

बेचारी जमुना शरम के सारे ज़मीन में गड़ी जा रही थी। उसकी सास भी आज क्या अकारण उसे योगिराज की शरण घसीट लाई। वह

तो जो नीचा आँखें कर, अपनी सास से लिपटी बैठी, पल भर के लिए भी, आँख ऊपर न उठा सकी।

थोड़ी देर बाद स्वामी जी ने अपनी चिलक में गाजा भर, उस सुलगाते हुए कहा:

“मैं अवश्य करूँगा जो कुछ मुझमें बन पड़ेगा इस बच्ची के लिए। आप चिंता न करें। मुझे लाला जी ने उसकी कुँडली दिखाई है। नक्षत्र कुछ बुरे नहीं हैं। राहु टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर आ गया है। उसे भी ठीक चाल पर लाया जा सकता है। अमंगल को सुपथ पर लाने की विधि है। मैं सब कुछ कर दूँगा। आप घर जाइए। गुरुवार के दिन बच्ची को लगभग छः बजे गोधूली के मुहूर्त पर बगिया में भेज दीजिए; उसके साथ आने का कष्ट आप न कीजिए। और देखिए, यह सब कुछ किसी को ज्ञात हुए बिना करना होगा, ताकि शुभ काम में विघ्न मंतीषी लोगों को की आँर से कोई बाधा उपस्थित न हो। विधि को मैं एक घंटे के भीतर समाप्त कर दूँगा और तत्पश्चात् वह जिस तरह चुपके से यहाँ प्रवेश होगी उसी प्रकार बाहर भी निकल कर घर लौट जाएगी। सावधानी से काम लेना होगा। नहीं तो अमंगल होने का भय है।”

ललाइन बात समझ गई। बोला:

“नहीं, नहीं, स्वामी जी, आप चिंता न करें। मैं बात समझ गई। मैं बहू को बन्द मोटर में आप के पास बृहस्पत के दिन बराबर समय पर भेज दूँगी। आप को तो वह पिता जैसे मानती है—क्यों बेटी, तुम गुरुवार के गोधूली पर यहाँ आजायोगी ना?”

जमुना अपने मुँह से कुछ न बोली। वह लाज के मारे ज़मीन में गड़ गई। उसने मन ही मन कहा : “क्यों यह सब बग़ैर बात के मुझमें कराया जा रहा है? क्या स्वामी जी ईश्वर हैं जो वह सब कुछ कर सकते हैं?”

गुरुवार को अभी तीन दिन बाक़ी थे। स्वामी जी के चरित्र की चर्चा अब गाँव में बहुत कुछ फैल चली थी। जब से गौरी की गोद भरी, तब से तो लोगों में यह आम तौर पर कहा जाता कि रामानंद ढोंगी है, पाखँडी है, व्यभिचारी है। उसने गौरी को भ्रष्ट किया है, इत्यादि, इत्यादी। बागीचे के कुछ कर्मचारियों से यह बात न छिप सकी कि गुरुवार के दिन बलभद्र की बहू, जमुना, भी रामानंद के पाखँड का शिकार बनने वाली है। उनके मन में प्रतिशोध की ज्वाला भभक उठी। उनमें जो सबसे अधिक बुद्धिमान था—हीरा बागवान—बोला : “काम बड़ी हिकमत से करना होगा। शोर करने से बात बिगड़ जाएगी। अपन लोग स्वामी जी की कोठरी के बाहर अमरूद के पेड़ के नीचे, छिपे रहेंगे। वहाँ घनी छाया है। मौका देख कर ही उस पाखँडी को पकड़ना होगा। उतावली से खेल खराब हो जाएगा।” सब सहमत हुए, और दिन का इंतज़ार रहा।

बैजनाथ को बिल्कुल पता न लग सका कि उसकी माँ ने अपनी बहूके लिए क्या अनुष्ठान तजबीज़ किया है। बैजनाथ की उम्र इयादद न थी परन्तु वह सचेत और सावधान था। उसकी श्रद्धा रामानंदजी में अवश्य थी, किंतु किसी दायरे तक ही। वह यह मानने के लिए कदापि तैयार न था कि रामानंद जी केवल एक घंटा किसी अनुष्ठान जैसे साधन का प्रयोग कर, बाँझ के गर्भ रख सकते हैं। वह ऐसी बेहूदा बात मानने वालों को मूर्ख कहा करता था: अतएव वह किसी को ऐसी मूर्खता करते न देख सकता था। पर जब उसे इस बात का पता लगे कि क्या होने आ रहा है—तब ना ? वह तो बेचारा बेखबर था।

गुरुवार के दिन, गोधूली से कुछ समय पहले ही, जमुना, अपनी सास के आदेशानुसार, बन्द मोटर में बैठ, अकेली बागीचे में पहुँची। स्वामी जी बड़े ही खबरदार थे। वे कोई काम बग़ैर, माकूल एहतियात

लिए न करते थे — बसूबी जानते थे कि जो खेल वे खेला करते हैं वह बारूद की सुरंग जैसे है। ज़रा सी ग़लत होने पर जान से हाथ धोना पड़ेगा: अतएव वे आज सुबह से बड़े चौकन्ना थे। गुरुवार को बनिहर में बड़ा बाज़ार लगता था, और बागीचे के मालियों को दोपहर के बाद छुट्टी दे दी जाती थी। वे लोग बाज़ार से अपनी हफ़्ते भर की सामग्री ख़रीद कर संध्या के पश्चात् घर लाँटते थे। सब कर्मचारी लोग दोपहर को बाज़ार चल दिए। स्वामी जी ने प्रबन्ध निहायत ख़ूबी से कर रखा था।

जमुना ने, कार से उतर कर, ड्राइव्हर को रुख़सत किया। और सात बजे कार लाने को कह दिया।

ड्राइव्हर को ललाइन की ओर से भो काफ़ी साफ़ शब्दों में कह दिया गया था कि कार बहू जी को बागीचे छोड़कर वापस आजाएगी और एक घन्टे बाद लाने फिर भेज दी जाएगी।

जमुना, कार से उतर कर, दबे पैर बागीचे में दाख़िल हुई। उसे आज अकेली इस स्थान पर आने में भय लग रहा था। उसके हृदय में यह भय अकारण न था। वह स्वामी जी के प्रति बहुत श्रद्धा रखती थी, पिता तुल्य मानती थी। किन्तु जवान लड़की एकान्त में, ऐसे समय, पिता के पास भी जाने में संकोच करती है। उसे सहज भय लगता है—भय जिसकी परिभाषा या दिशा नहीं—किन्तु जिसे स्त्रियाँ अपना अमंगल सूचक चिन्ह समझ भय की दिशा में कभी अग्रसर नहीं होतीं।

जमुना को आज सहसा लगा कि उसे रामानन्द जी जैसे पवित्र आत्मा के सन्मुख जाते संकोच न करना चाहिए। वे तो आज उसी के कल्याणार्थ कुछ साधन का प्रयोग करने जा रहे हैं, जिससे उसकी,

उसके पति की, उसकी सास की मनोकामना पूरी होगी। ऐसे साधु के प्रति ऐसा अविश्वास, आशङ्का उसके मन में न उत्पन्न होनी चाहिए।

अतएव, जमुना, पगडंडी की राह, मन्दिर में प्रवेश हुई। रामानन्दजी बड़ी उत्सुकता से बाट जोह रहे थे। बड़ी ही बेचैनी से बरामदे में घूम रहे थे। किसी के पाँव की आहट पाकर उनके खड़ाऊँ एक दम थम गए। आवाज़ की दिशा में उनकी नज़र एक दम दौड़ गई। आँखों ने देखा कि वही प्यारी सूरत, जिसकी मस्त याद ने उनके दिल में पिछले चार दिनों में तूफान मचा दी थी, उनकी ओर बड़ी आहिस्ता चाल से बढ़ी चली आ रही है। स्वामीजी के तलुओं में यकायक नमी दौड़ गई। दिल की रफ़्तार तेज़ होगई। हाथों में एक अजीब गरमी। जमुना के पास पहुँचने पर, वे बड़ी धीमी आवाज़ में बोले :

“इधर, बच्ची, इधर चली आओ। मैं बाट जोह रहा था। समय हो चला है। बेला टल जाने पर अनर्थ होने की सम्भावना रहती है।”

जमुना सहमी हुई बरामदे पर चढ़ी। उसकी ज़बान से कोई शब्द न निकल सका। आँचल आँखों पर उतर आया था। इशारों पर चलती हुई, वह बरामदे के कोने के पास जा चुप खड़ी हो गई। स्वामी जी, तेज़ी से चल कर, उसके पास आ खड़े हुए।

“भार्ये,” उन्होंने जमुना की ओर देखते हुए कहा, “तुम्हें संतान की लालसा है। मैं आज उसी साधन का प्रयोग करूँगा जिससे तुम्हें एक अति सुन्दर बालक होगा। कहो, प्रसन्नता से उस विधि का स्वीकार करोगी ना?”

जमुना की समझ में बात स्पष्ट रूप से नहीं आई। विधि? किस विधि से स्वामीजी का अभिप्राय था? जमुना सहम गई, उसके हृदय में भय और लज्जा भर आई। स्वामीजी की आँखें ताल सुर्ख होगईं

थीं । उनकी ज़बान भी किसी ऋदर लड़खड़ाती थी । एक अजीब डरावनी सूरत देख जमुना काँप उठी ।

स्वामी रामानन्द, बाज़ू वाली कोठरी की ओर इशारा करते हुए, मुस्कराकर बोले :

“देवी, इस कोठरी में चलिण । एकान्त में अनुष्ठान किया जायगा।”

जमुना अब भी कुछ न बोली । वह अपनी जगह खड़ी-खड़ी नीचे अपने अँगूठे की ओर देखने लगी । उसका दिल दहल गया । किन्तु वह हिम्मत न हारी । उसे जान पड़ा जैसे स्वामीजी आज किसी तेज़ बुझार में उबल रहे हों । उनके सर में आज जो नशा चढ़ा है वह गॉजे के नशे से भी थपैला है । चुप खड़ी-खड़ी वह अपना साहस बढ़ाने लगी ।

स्वामीजी ने देखा कि जमुना कोठरी में प्रवेश करने के लिए तैयार नहीं है । उनके सर पर भूत अब पूरी तौर पर सवार हो गया था । वे अपने होश हथाम खो बैठे थे । लपक कर जमुना का हाथ पकड़ लिया, और उसे कोठरी की ओर बरबस घसीटते हुए बढ़बढ़ाने लगे :

“प्यारी जमुना, मैं तेरे ही हित के लिए यह कर रहा हूँ, और तू है कि मेरी बातों पर अविश्वास करती है ।”

स्वामीजी ने कोठरी में उसके साथ प्रवेश किया और भीतर से दरवाज़े को बन्द कर लिया । ज्योंही स्वामीजी ने असहाय जमुना पर बलात्कार करना चाहा, उसने इकवारगी स्वामीजी के पैर पकड़ कर अपनी ओर इस तरह खींचा कि वे अपने को सम्भाल न सके और ज़मीन पर आया ही चाहते थे कि जमुना क़ुर्ती से उनकी छाती पर सवार हो गई । अपनी कमर में छिपाए हुए चाक़ू को तेज़ी से निकाल, स्वामी जी के गले पर रखते हुए, उसने कहा :

“पापी, दुष्ट, पाखंडी, मैं आज तुझे जीता न छोड़ूँगी। मैं तो तेरे ढोंग को जान गई थी। मेरे पास यह चाकू है जो तेरा काम तमाम कर देगा।

कामान्ध योगिराज के पीठ तले की ज़मीन खिसक गई। उनका नशा एक दम उतर गया—गिटपिटाने लगे :

“क्षमा करो देवी। मैं आज से ऐसा कुकर्म न करूँगा। तुम मात्तात सती हो। मैं पापात्मा, दुराचारी हूँ, मेरे प्राण की भित्ता दीजिए।”

“प्राण की भित्ता तुझे, पाखंडी—दुष्ट कहीं का ! भगवा कपड़े पहिन कर भोली अबलाओं को अपने कपट-जाल में फँसाता रहता है। तुझे तो आज मैं यमपुर भेज कर ही रहूँगी, और अपनी बहिनों को इस सङ्कट से सदा के लिए मुक्त करूँगी।” जमुना ने चण्डी का रूप धारण किया था। बड़ी ही निर्दयता से अपने हाथ का चाकू उस कामान्ध व्यभिचारी के गले पर उसने चलाया : उसके गले से रक्त की पिचकारी छूट कर मुँह और कपड़ों को लाल कर रही थी।

जमुना की तीखी आवाज़ सुन कर बागीचे के माली लोग, जो अमरूद के पेड़ की धनी छाया में छिपे थे, लपक कर कोठरी के दरवाज़े पर पहुँचे। दरवाज़ा भीतर से बन्द था। इस जोर की लातें पड़नी शुरू हुईं कि दरवाज़ा खुल पड़ा। लोग देखकर दंग रह गए—स्वामी रामानन्द की लाश लहू में लथ-पथ ज़मीन पर पड़ी थी। और काली का रूप धारण कर, जमुना, उसकी छाती पर आरूढ़, उसके रुधिर से अपने होंठों को रँगें हुए थी।

बनिहर के राममन्दिर में अब लाला बलभद्र के सदाग्रत कं महिमा सुन, कोई भगवा वस्त्र-धारी आकर नहीं टिकता। लोगों के दिव

में यह बात जम गई थी कि रामानन्द का प्रेत इस बगिया में बसता है, और जो साधु-संत यहाँ आकर बसेंगे उन्हें वह कष्ट पहुँचाएगा।

रामानन्द पाखंडी की मृत्यु के छः माह बाद जमुना के गर्भ रहा। बैजनाथ अब भी अपनी स्त्री से मज़ाक करता : “जमुना, रामानन्दजी का अनुष्ठान तो खूब रहा।”

जमुना भी ठठोल थी। कहती : “तुम्हारी माँ तो अठारह माह में ही अधीर होकर मुझे उस पापी के हवाले करना चाहती थी।”

बैजनाथ अपनी स्त्री के गले में बाहें डाल कहता :

“पर चाकू तुझे वहाँ कैसे मिल गया ?”

“चाकू तो मैं अपनी कमर में छिपाये घर से ले गई थी। मुझे आशंका थी कि वह पाखंडी मेरा सतीत्व हरने की चेष्टा करेगा। लाला जी भी बुढ़ापे में अपनी अज़ल खो बैठे हैं। कहाँ-कहाँ से सँड-मुसँड, लम्पटों को लाकर राममन्दिर में टिकाते हैं—बनिहर का नाम कलंकित करते हैं !”

विलसिया

बनवारी का जब अन्तिम समय आया तो विलसिया का हाथ बड़े प्रेम से अपनी छाती पर रखकर वह कराहते हुए बोला : “विलसिया, अब मैं चला । मैं तुम्हें कुछ न दे सका । तुम्हें धोखा मैं नहीं दे रहा हूँ, विलसिया, वह (ऊपर की ओर देख कर) दे रहा है । तू न घबड़ाना । हिम्मत से काम लेना । और देख, मेरे नाम पर श्रद्धा न लगाना । ”

विलसिया का धैर्य डगमगाने लगा । उसकी आँखों से आँसू टपक पड़े । वह अपने पति की चारपाई पर झुकी जा रही थी मानो एक हरी शाख पेड़ से टूट कर गिर गई हो । “छिः ऐसा न कहो । तुमने मुझे सब कुछ दिया है । ईश्वर दया दयालु है । तुम अच्छे हो जाओगे । क्यों छोटा मन करते हो ? ” विलसिया अपने आँचल से आँख पोंछते हुए बोली ।

“हाँ, हाँ, विल्लो, क्यों नहीं अच्छा हो जाऊँगा । तू जो मेरे लिए” कहते कहते बनवारी सहसा रुक गया । उसका गला भर आया और शरीर एकदम शिथिल पड़ गया, पापाण जैसे निस्तब्ध एवं निस्पन्द ! विलसिया का हाथ अभी बनवारी की छाती पर ही था कि छाती की धड़कन बंद हो गई । बनवारी सदा के लिए विलसिया को छोड़ गया ।

बनवारी को मेरे आज तीन साल हो गए । बनवारी की विलसिया ने धैर्य से ही काम लिया ।

एक छोटी-सी पान की दूकान कॉलेज के नुक्कड़ पर खोल दी, और ईश्वर की दया से कुछ ही रोज़ में यह दूकान खूब चल निकली। बिलसिया जब दूकान पर बैठती तो राह चलने वाले, कॉलेज के लड़के, और पाम वाली बरफ़ फैक्टरी के लोग इसी दूकान पर पान की तलब बुझाने के लिए टूट पड़ते। बिलसिया के हाथ के लगे पानों में वह मादकता होती जो विहस्की के पेग में भी नसीब नहीं।

आठ माल पहले जब बनवारी इस बिलसिया को व्याह कर लाया था तो सारे शहर में एक तहलका मच गया था। लोग-बाग़ दूत में अँगुली देकर रह गए थे। यार, दोस्त बनवारी पर फ़वतियाँ कसने और उसकी खिलियाँ उड़ाते।

“क्यों बे, बनवारी, इस पटाखे को कहाँ से उड़ा लाया?” एक कहता।

“अरे यार,” दूसरा कहता, “तू बिलसिया को रख कर क्या करेगा? ला, मेरे हवाले कर।”

“सुन, बनवारी, तेरी तन-व्याह ठहरी बाईस रुपट्टी और बिलसिया जैसी औरत की एक चोली नहीं बनेगी उस बाईस रुपट्टी में। फिर क्या खायेगा, क्या खिलायेगा?” तीसरा कहता।

“असौ, इसे तो तू खूब देखभाल कर लाया। क्या औरत है! हिरनी जैसी आँखें, सिंहनी जैसी कमर, हंसनी जैसी मस्त चाल। अवे कहीं से भगा तो नहीं लाया इसे? नहीं तो भियाँ को बड़े घर जाना पड़ेगा,” चौथा कहता।

बिलसिया वाकई बड़ी हसीन थी। गोरा रंग, बड़ी बड़ी आँखें, उभरा हुआ जोवन, बड़ा सुडौल बदन। लोगों में इसके बारे में कई किस्म की चर्चा थी। कुछ लोग तो यह कहते कि बिलसिया हकीकत

में हिन्दू नहीं है। इसका बाप मुसलमान था और बाँकीपुर पटना का रहने वाला था। कुछ लोग इसके बिलकुल विपरीत यह भी कहते कि बिलसिया की माँ मुसलमान थी और बाप हिन्दू। सच बात जो कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि बिलसिया की साफ़ ज़बान और उसकी कुछ खास अदायें इस बात का सुवृत्त देती थीं कि वह ज़रूर इसलामी तालीम व तहज़ीब में पली है।

बनवारी बहुत खुश मिज़ाज, यारबाज़, हँस-मुख जवान था। अपने दोस्तों से बड़ा हिलमिल कर याराना सुलूक करता। छोटी नौकरी करता फिर भी बड़ा दिल लेकर पैदा हुआ था। पास में पैसा हो तो कल की क्या फ़िक्र? दोस्तों को खुले हाथ खिलाता, और अगर पास में कुछ न हो तो कभी किसी से न माँगता। इसीलिए वह अपने दोस्तों के दिल में घर किए हुए था। और इसी सिक्रत की वजह सारा मोहल्ला उसके नाज़ उठाता था।

बनवारी वैसे बहुत सहन-शील और मज़ाक-पसन्द था। हँसते हँसते वह सब कुछ सुन लेता और धीरे-से बड़ी नपी-तुली बात जवाब में इस अन्दाज़ से कह डालता कि लोग सुनकर खुशी से बाग़ बाग़ हो जाते।

इसी बिलसिया के बारे में जब पिछली दीवाली में एक रोज़ अपने दोस्तों के मज़ाक की वौछार अपने ऊपर फ़ेल रहा था तब यकायक उसने अनवर को सुनाते हुए कहा था : “क्योंरे, अनवर, तू सच मेरी बिलसिया पर रीझ गया है? तो करदूँ तेरी सिक्रारिश उससे? देख, वह तो मंज़ूर कर लेगी। पर तू अपनी सोच। बोल है हिम्मत?” अनवर सकपका कर रह गया। बनवारी खूब हँसा।

अनवर मियाँ थे नाटे मगर बदन के गठीले; कपड़ों के शौक्तीन, जिसके न कोई आगे न पीछे; अपनी छोटी सी तनख़्वाह में खा-पी कर

मस्त रहते और उठते बैठते बिलसिया का सुवाब देखते। अब तो वह फ़ैक्टरी में खासा मज़ाक बन गया था। कभी कोई काम बिगड़ जाए उसके हाथ से तो बूढ़ा फ़ोरमैन उसे ताना देता : “क्यों; अनवर मियाँ, ख़याल किधर था ? क्यों बनवारी की जवान बीवी पर लार टपकाते हो ? यार अपना काम करो। अपनी रूखी सूखी खाओ और ठंडा पानी पियो। दूसरे की चुपड़ी हुई पर मत ललचाओ।”

बिचारा अनवर सहम जाता। झेंपकर कहता : “आप भी क्या बच्चों से मज़ाक करते हैं, रहमान चाचा।”

तो बिलसिया की पान की दूकान तो खूब चली। पान भी खूब बनाती थी वह। एक मर्तबा इसके हाथ का लगा पान खाकर फिर इन्ही दूकान पर दुबारा पान माँगने न आना लोगों के लिए दुश्वार था। पर यह भी कोई कोई कहते कि बिलसिया का पान नहीं, बिलसिया की मदमाती जवानी, बिलसिया की माह-ज़र्बी सूरत, उसको मादक हँसी, शीरीं ज़बान, और माशूकाना-हरकतें—इन्हीं पर आशिक हो लोग-बाग उसकी दूकान पर चक्कर काटा करते थे।

डिप्टी कलेक्टर का बड़ा लड़का, जैप्रकाश, इसी साल इन्टर पास कर बी. ए. में गया था। हिन्दी साहित्य में प्रेम, कविता, कहानी से खास दिलचस्पी, वह बिलसिया के हाथ के लगे पान खाने के लिए चौबीसों घंटे बेचैन रहता। पिछले अठारह महीने इस साहित्यिक ने जितनी भी कहानियाँ, कवितायें लिखीं उन सब में बिलसिया के ही इन्सपिरेशन ने ज़ोरों से काम किया।

वैसे तो बिलसिया पर लट्टू होने वालों की तादाद कुछ कम न थी। गोठ बाज़ार के आसूदा ठेकेदार, मंगली प्रसाद, का जवान लड़का गिरधारीलाल, और हरबंशनाथ दारोगा का निठल्ला भतीजा, मोहन,

ये दोनों जैप्रकाश के साथ ही 'बिलसिया-कप' के लिए 'रनर्स-अप' कहे जा सकते थे। लेकिन आखिर जैप्रकाश ने ही अपनी धाक जमाई। वह कसरती था; बाहें फुलाकर बड़े झोंक से चलता और अपने शारिरिक बल तथा पैसे में अपने कमज़ोर रक़ीबों को आसानी से दबा देता।

बनवारी की बिलसिया आज खा-पी कर गौठ में रुपए बांधे है। पति के जीते जी पाँच साल में यह सौभाग्य उसे कभी नहीं मिला था। वे हमेशा कर्ज़ में ही डूबे रहे— बनवारी की मूर्खता के कारण नहीं— इमे पित्त के मरने के बाद, छोटे से बड़ा करने वाले काका की शराब खोरी की वजह। बनवारी बिलसिया को ढेर भर प्यार दे सका था। वो खुद उस पर निछावर था; परंतु बिलसिया की सुंदर देह को ढंकने के लिए वह गरीब एक सुन्दर साड़ी उसे कभी न दे सका !

आज बिलसिया लोगों को अपने रूप-लावण्य और पान से मोह, उनको दीवाना बनाकर रेशमी धोती और सेंटिन की चाली पहनती है।

लोगों में कई क्रिस्म की अक़वाहें उड़ने लगीं। कोई तो कहता कि बनवारी के मर जाने के बाद बिलसिया रंडी बन गई। पान की दूकान की आड़ में वह अपने यौवन का मोंदा करती है। कोई यह भी कहता कि बिलसिया एक अनोखी पान वाली है जो पान की दूकान पर बैठकर भी, अपने सतीत्व को बनवारी की अमानत समझ, दुनिया का समाशा देखती और अपने बनवारी के अन्तिम शब्दों को हमेशा याद रखती : “देख मेरे नाम पर कभी धव्वा न लगाना।” बिलसिया शहर भर में एक चर्चा का विषय बन बैठी। हर जगह बिलसिया का जिक्र होता, और हर जगह वह रंडी करार दी जाती, या गरीब बनवारी की नेक बेवा।

कॉलेज के लड़कों की तो धारणा ही बन गई थी कि बिलसिया चरित्रहीन औरत है। पान की दूकान के बहाने वह अपनी जवानी पर

तिजारत करती है। तभी तो कुछ ही रोज़ में उसने ये ठाठ बना लिए; और अब तो रेशमी धोती के बग़ैर वह बात ही नहीं करती। क्या पान बेचकर कभी कोई इतना पैसा कमा लेता है ?

कौन कहता है कि कॉलेज के विद्यार्थी बिलकुल 'थियोरैटिकल' होते हैं ? अन्दाज़ तो उन्होंने खूब लगाया।

जैप्रकाश पिछले अठारह माह में बहुत कुछ आगे बढ़ गया था। पहिले तो बिलसिया की दूकान पर आता तो दबी ज़वान पान माँगता, और बिलसिया के पछुने पर "कहिण बाबूजी कैसा पान दूँ ?" मुँह से एक बात न निकलती। फिर आहिस्ता-आहिस्ता "कहिण कैसा पान दूँ ?" के जवाब में करने लगा : "जैसा भी तुम देना चाहो।" बिलसिया देती तो वही पान—कत्था, चूना, सुपारीवाला—लेकिन अजीब अन्दाज़ से, मुस्कुराकर।

जैप्रकाश पर बिजलियाँ गिर पड़तीं। वह भीतर ही भीतर मारे खुशी के फूल न समाता। बाह, बिलसिया, क्या पान लगाती हों; किस अदा से अपनी अँगुलियाँ नचाती हो !

बिलसिया पान बनाती और नज़र उसकी नीचे पान पर हाँती। जैप्रकाश की आँखें बिलसिया के अङ्ग-अङ्ग पर बिखर जातीं। बिलसिया सब कुछ देखती और कुछ नहीं देखती।

जैप्रकाश लट्टू था। उसके दिल में एक अजीब तूफ़ान उठ रहा था। अन्धी बिलसिया की छलैल छबीली जवानी बिलसिया के कानों में गुनगुनाती : 'बिलसिया ये तेरे नहीं, तेरी मदमाती जवानी के शहीद हैं। क्या करेगी इन भोले जवानों को घायल कर ? तू तो बनवारी की है।' बिलसिया अपने मन ही मन कहती : 'अरे पान खानेवालों, बिलसिया को देख कर क्यों रीझते हो ? वह तुम्हारी माँ-

वहिन जैसी है। क्यों तरसते हो ?' उसे बनवारो की याद आ जाती। आह, किस करुण वेदना ने मरते समय उसके मुँह से वह भीख बिलसिया से माँगी थी ! "और देख, मेरे नाम पर धब्बा न लगाना।" फिर वह मन ही मन कहती : 'क्या मैं इतनी नीच हूँ ? क्या मैं पान बेचूँ और साथ ही अपना शरीर ? कदापि नहीं। ईश्वर जानता है मैं नीच नहीं हूँ। पर क्या मैं इन्हें ललचा भी नहीं सकती ? ईश्वर ने मुझे क्यों रूप दिया, क्यों लोग दीवाने होकर मेरी दूकान पर चक्कर काटते हैं ? मैं इन्हें ललचाऊँगी, इन्हें तरसाऊँगी, और इनकी बेकरारी को देखकर खुश होऊँगी। बनवारी भर जवानी में मुझे छोड़ गया। मैं अब किसी की नहीं हो सकती। तो फिर क्यों न ये नवजवान जो बिलसिया की दूकान पर बिलसिया के रूप-रंग की मादक शराब पीने आते हैं, ग्यासे ही बेकरार तरसते हुए उसकी दूकान से वापस जायें ? करूँगी—यही रोज़गार मैं जन्म भर करूँगी, मोहूँगी और सौदाई बनाकर उन्हें वापस भेजूँगी।'

जैप्रकाश अब कुछ दिनों से निश्चित हो गया था कि बिलसिया उस पर रीझ गई है। क्यों नहीं ? पिछले साल भर में उसने पान की क्रीमत के बहाने तीन-चार सौ रूपए बिलसिया को दे दिए थे। जब भी वह बिलसिया की दूकान पर आकर पान माँगता, और जेब से दो-चार रूपए निकाल कर उसे देता, बिलसिया मुस्कुराती और कहती : "बड़े दिल वाले हो, बाबू। ईश्वर तुम्हें खुश रखे।"

जैप्रकाश मानों हज़ारों पा जाता। पान गाल में दबा एक छोटा-सा, निहायत नाज़ुक मज़ाक, बिलसिया की तरफ़ इशारा करते हुए, छेड़ता, और गुड-डे स्वीटी कहकर चूल देता।

बिलसिया इन अङ्गरेज़ी शब्दों का अर्थ न समझ पाती । एक रोज़ जैप्रकाश से पूछ बैठी : “कहिण, बाबू, आप मुझे अङ्गरेज़ी में क्यों कोसते हैं ?” जैप्रकाश खूब हँसा ।

बात यों ही चलती रही । रफ़्तार तेज़ होती गई । जल्द दायरे के पार होने चली ।

एक रोज़, शनिश्चर का दिन था, जैप्रकाश कुछ परेशानी की सूरत ले बिलसिया की दूकान पर गया और उसने बिलसिया से पान माँगा ।

“कैसे पान दूँ ?”

“जैसा भी दो ।”

“इस उम्र में इतना पान नहीं खाना चाहिए ।”

“किस उम्र में ?”

“यही—तुम्हारी उम्र में ।”

जैप्रकाश हँसी न रोक सका—खूब हँसा, बोला : “तो कब बुढ़ापे में खाया जाय ?”

हाज़िर जवाब बिलसिया ने झंझोड़ा :

“दुढ़ापा ! किसका बुढ़ापा ?”

बड़े प्यार से पान लेते हुए जैप्रकाश यकायक बेकरार हो उठा, बोला :

“प्यारी बिलसिया, छोड़ो भी पान की बात । कहो क्यों तरसाती हो ? अब बिलसिया भी हँस पड़ी । एक अजीब अदा से पीछे टिकती हुई बोली :

“आप तरसते है ? किस पर—क्यों ?”

“तुम पर । तुम्हीं जानो । तुमने ही जादू किया है ।” बिलसिया फिर तन कर बैठ गई । जैप्रकाश तेज़ी से आगे बढ़ा जा रहा था । बिलसिया की भौहें खिंच गईं, भर्राई हुई आवाज़ में बोली :

“जादू ! मैंने किया ? किस पर ?”

जैप्रकाश अपने ऊपर काबू खो बैठा; बिजली की तेज़ी से लपक कर बिलसिया का हाथ पकड़ते हुए गिड़गिड़ाया :

“तुमने : मुझ पर, कहो बिलसिया.”

“बस, बस । नादानी न करो । शरम नहीं आती तुम्हें ? क्या तुम्हारी माँ, बहन नहीं हैं ? मुझ पर ऐसी गंदी नज़र डालते हो !”

जैप्रकाश अचानक होश में आया; पर नाहक ताव खागया :

“ओह ! पानवाली और इतना गुरुर !”

“पान बेचती हूँ, काबू साहब, इज्जत नहीं । आप लोग बड़े हैं । मैं छोटी हूँ । लेकिन मैं अपनी असमत रखना जानती हूँ । समझे ?”

“अरे बाहरी पतितता ! अब तू ही तो एक मीठा-सावित्री रह गई है । ला मेरे तमाम पैसे ।”

“पैसे ? जा माँग गाँशाला के मैनेजर से । वो रुपए मैंने दान कर दिये ।”

“दान ! दान !”

बिलसिया ठहाका मारकर हँस पड़ी । जैप्रकाश के पैर तले की ज़मीन खिसक गई । अपनी मनहूस सूरत लेकर वह धीरे-धीरे बिलसिया की दूकान से हट गया ।

अभिशाप

युवराज महेन्द्रसिंह इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी. ए. की परीक्षा में फ़र्स्ट क्लास फ़र्स्ट पास हो कर भी आज खुश न हो सके। वे कुछ दिनों से बहुत परेशान-से रहने लगे थे। विद्यार्थी जीवन में भी उनकी सारी चिन्तार्यें केवल उनकी पढ़ाई, परीक्षा का फल, और भविष्य का 'प्रोग्राम'-इन्हीं कारणों से नहीं थीं। पिछले कई दिनों से युवराज महेन्द्र एक अजीब उलझन में फँस गए थे। आज जब उनके मित्र लक्ष्मीकांत त्रिपाठी का तार उन्हें मिला, जिसमें उसने अपने मित्र की शानदार सफलता पर मुबारकवाद भेजी थी, तो, ईश्वर जानता है, महेन्द्र के हृदय में तिल भर भी खुशी नहीं हुई। पास होना—बी. ए. में पास होना—फ़ेल होना यह सब उन्हें सहसा निकम्मे काम प्रतीत होने लगे। जीवन अपने यथार्थ रूप में आज युवराज महेन्द्रसिंह के आगे आकर खड़ा था—जिसमें युनिवर्सिटी की परीक्षा जैसी कोई चीज़ ही नहीं थी—उसमें पास-फ़ेल होना तो बिल्कुल निरर्थक, निकम्मी बात उन्हें लगी, जिसका वास्तविक जीवन से कोई सम्बन्ध ही नहीं था....

आज से करीब ढाई सौ साल पहिले राजा बलबीरसिंह के नाम का डंका मध्य-हिन्दुस्तान में खूब बज चुका था। राजा बलबीरसिंह अपनी तलवार की शक्ति से, जहाँ जाते एक छोटी-सी रियासत की नींव डालते, उसे बसाते। धीरजगढ़ तो उनका बसाया हुआ शायद चौथा राज्य था। झूमि से १५० मील वायव्य दिशा में, मनियार नदी

के, जो गंगा की सहायक नदियों में है, दोनों तट पर, करीब ११००० वर्ग-मील के रक्तवे में बसाया हुआ, यह धीरजगढ़ बड़ी ही ऐश्वर्यशाली रियासतों में उन दिनों गिनी जाती थी ।

राजा बलबीरसिंह की धाक दो सौ मील के इर्द-गिर्द में खूब बँधी थी । वे थे भी बड़े वीर, चतुर और न्याय-प्रिय शासक । अपनी सहिष्णुता तथा मृदु व्यवहार के कारण अपनी प्रजा में केवल सम्मानित ही नहीं, बल्कि बहुत पूज्य भी थे ।

राजा बलबीरसिंह ने, लोग कहते हैं, मुगल बादशाह औरंगज़ेब से अपनी शूरवीरता के कारण बहुत मान-मरतबा और धन पाया था । पचपन साल बड़े अमन-चैन से सुखपूर्वक राज कर, राजा बलबीरसिंह परलोक सिधारे थे । उनके उपरान्त उनके पराक्रमी पुत्र सरदार मानसिंह ने, राजा मानसिंह की उपाधि से गद्दी पर बैठ, धीरजगढ़ का राज-कारोबार बड़ी योग्यता पूर्वक बत्तीस वर्ष संभाला; और जब उनका अन्तिम समय आया तो उनके हृदय में शांति तथा विश्वास था कि उन्होंने अपने पूर्वजों की अमानत को उसके ऐश्वर्य की सीमा तक अपने धैर्य, बुद्धि और पराक्रम से पहुँचा दिया है ।

राजा बलबीरसिंह के वंशज धीरजगढ़ पर युगों राज्य करते रहे । पाँच पीढ़ियाँ सुखपूर्वक अपने अपने कर्तव्यों का पालन करती हुई, अपने अपने योग्यतानुसार, राज्य की ख्याति को बढ़ाती रहीं । किन्तु काल वक्र गति से ही चलता है; अतएव, इस राजवंश में, आगे चल कर, ऐसे भी महापुरुषों ने जन्म लिया कि जो, धीरजगढ़ की पुरानी मान-मर्यादा को भूल, अपने ऐश्वर्यशाली पूर्वजों की कमाई हुई प्रतिष्ठा को बिसार, ऐसे निकम्मे काम कर बैठे कि राज्य गिरते गिरते अपनी अवनति की अन्तिम सीमा को ही पहुँच कर रहा ।

राजा बलबीरसिंह की मृत्यु के लगभग सवा सौ वर्ष बाद। धीरजगढ़ के राजवंश में दो शाखाएँ फूट पड़ीं : और एक राज्य दो बराबर बराबर हिस्सों में विभाजित हुआ। पूर्वी हिस्सा धीरजगढ़ के नाम से ही पुकारा जाता, पर पश्चिमा हिस्सा करणगढ़ कहलाया क्यों कि वह सरदार करणसिंह को उनके हिस्से में मिला और वे वहाँ की राजगद्दी पर बैठे। राजा करणसिंह के पूर्वज राजा बलबीरसिंह के सहोदर भाई थे।

धीरजगढ़ दो हिस्सों में बँट कर बहुत शीघ्र पतन की ओर बढ़ा। यहाँ तक कि राजा हरिहरसिंह और राजा करणसिंह—धीरजगढ़ और करणगढ़ के अधिपतियों—में इतना वैमनस्य फैल गया कि वे, अपने वंश की उज्ज्वल कीर्ति को भूल, आपस में बुरी तरह जूझ पड़े, और उनके प्रतिरोध की ज्वाला भड़क उठी। यदि आज पक्षपात रहित निर्णय किया जाए तो यही कहना होगा कि मुगल बादशाहत के बाद हिन्दुस्तान की राजनैतिक दशा ही कुछ ऐसी बिगड़ गई थी कि वीर राजपूत जाति अपने आत्माभिमान, साहस और पूर्वजों की वीर-गाथा को भूल चुकी थी। अब तो ये लोग छोंटे-छोंटे झगड़ों में मशगूल रहते और मुगल बादशाह की 'नज़रे इनायत' के लिए सदा लालायित। अपना धर्म तो गमा ही बैठे थे। अपनी शूर-वीरता और महत्वाकांक्षा को भी तिलाजलि दे, इस देश को नाश की ओर ढकेलने में तत्पर हो गए। सच पूछा जाए तो वीर राजपूत जाति का पतन ही भारत के पतन का विशेष कारण कहा जा सकता है।

समय अपने गतिनुसार चलता ही रहा; और जिस रफ्तार से राजा बलबीरसिंह के स्थापित किये गए एक सुन्दर, संगठित राज्य के दो टुकड़ों में पारस्परिक वैर-भाव बढ़ता गया उसे देख यह कहना

कदापि कठिन न था कि धीरजगढ़ राज्य का चिराग सदा के लिये जलद बुझने जा रहा है। आसपास के राजाओं में तो यह सदा चर्चा रहता और बड़े विश्वास पूर्वक कहा जाता कि, बाँस के बन में चिनगारी की नाई, इस राज्य के दो मुख्य शासक आपस में लड़कर अपने वंश की धवल-कीर्ति की होली स्वयं अपने हाथों से जलाने पर तुले हुए हैं। उन्हें ऐसा कहने के लिए यथेष्ट कारण जो थे।

ईश्वर की इच्छा से ही विश्व में सब कुछ होता है। वही तो दृश्य, अदृश्य सृष्टि को बनाता, मिटाता है। हवा भी उसकी इच्छा से ही चलती और रुकती है। हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश, उन्नति, अवनति—सब उसी सर्व शक्तिमान परम-पिता की इच्छा ही पर तो अवलम्बित है। एक घास का तिनका भी इधर से उधर नहीं हो सकता यदि उस सर्वशक्तिमान की इच्छा न हो। अतएव, धीरजगढ़ नाश की ओर अग्रसर होकर भी, रुक गया। रुक ही नहीं गया; कुछ समय गतिहीन दशा में खड़ा रह, फिर दुबारा अपने ऐश्वर्य की ओर बढ़ा। उसी अनोखे धीरजगढ़ के राजवंश की अनोखी कहानी हम आज अपने पाठकों को सुनाने बैठे हैं।

जिस समय का हम जिक्र कर रहे हैं उस समय धीरजगढ़ में राजा प्रतापसिंह शासन कर रहे थे, और करणगढ़ पर राजा दिग्विजयसिंह की प्रतिभाशाली सत्ता जमी थी। दोनों राजाओं ने अपना शासन कार्य बड़ी ही चतुराई, एवं दूरदर्शिता से चलाता था। और दोनों वंशों में ऐश्वर्य, सम्पत्ति, संतति की कोई कमी न थी। रक्तवे में करीब-करीब बराबर ५,५०० वर्ग मील ये दोनों रियासतें थीं। दोनों में लगभग उतने ही गाँव थे—धीरजगढ़ में ५०२ और करणगढ़ में ५०७। धीरजगढ़ की सालाना आमदनी ३५ लाख थी और करणगढ़ की

३२ लाख । इनमें से हर एक रियासत ब्रिटिश सरकार को समलाना तकौली ५०,००० रुपए देती थी ।

किन्तु करणगढ़ के शासक, राजा दिग्विजय सिंह, अपने वैभव और संपत्ति से भी सुखी न थे । उनके सदा उदास रहने का कारण यह था कि, तीन रानियों के होते हुए भी, उनके पुत्र न था । केवल एक कन्या थी, कुमारी बालचन्द्रिका, जो अपने रूप-रंग और गुणों से मध्य-हिन्दुस्तान के राजकुमारों को मोह चुकी थी । उनमें से हर एक की यही अभिलाषा थी कि राजकुमारी बालचन्द्रिका को वह अपनी बधू बनाकर अपने महल में लाए ।

धीरजगढ़ के देशाधिपति राजा-प्रतापसिंह के एक सुयोग्य पुत्र था, युवराज महेन्द्रसिंह; बड़े ही सुशील, सदाचारी और शरीर-स्वास्थ्य से सर्वथा क्षत्रिय-कुल-भूषण, जिसे देखकर राज्य के प्रजागण उनके वीर पूर्वजों की भव्य मूर्ति तथा उनके पराक्रम का अंदाज़ लगाते थे ।

इन दोनों राज्यों के शासकों में बाल-चाल न थी । दोनों में पीढ़ियों से चला आया हुआ वैमनस्य और वैर-भाव ने अपना विष सूत्र फैलाया था । एक वंश की दो शाखाओं में इस क्रूर पारस्परिक शत्रुता थी कि प्रजागण सदा काना-फूसी करते और आपस में कहते कि यदि इसी तरह इन दोनों राज्य में घृणा की अग्नि फैलती रही तो एक दिन बड़ा ही अमंगल होगा, और इन रियासतों का नाश ही होकर रहेगा । बूढ़े-सयाने कुछ देख-समझकर कहते : “नहीं, अमंगल के दिन चले गए । अब तो ईश्वर अपना चमत्कार दिखाने को है । कोई ऐसी घटना हो कर रहेगी कि सौ साल से बिगड़ी हुई एक पूर्वज की संतान आपस में फिर मिल जाएँगी ।”

युवराज महेन्द्रसिंह कॉलेज से निकल कर कुछ दिनों बाद इंग्लैंड चले गए थे । और वहाँ उन्होंने केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में चार साल रह

कर ऊँची शिखा पाई थी। जब वे हिन्दुस्थान लौटे तो उन्हें देख राज्य के प्रजागण बड़े ही प्रसन्न हुए। इतनी ऊँची और उदार शिखा पाने पर भी युवराज को गर्व छू कर नहीं गया था। उनका शील और सद्व्यवहार, सदा की नाई, बहुत ही प्रशंसनीय रहा—उनका आभूषण बनकर रहा : और अब तो वे किसी से भी बात करने तो बहुत ही नम्रता और विनय के साथ।

इन दिनों राजकुमारी बालचन्द्रिका अपने काका ठाकुर हरनामसिंह के साथ अमेरिका में भ्रमण कर रही थी। अकस्मात्, पिता की बीमारी की खबर पा, वह फौरन हवाई-जहाज़ से हिन्दुस्तान लौट आई। दैव-योग से जिस समय वह अपने हवाई जहाज़ से शांताक्रुज़ एयरोड्रोम में उतरी उन्हीं दिनों युवराज महेन्द्रसिंह कुछ रोज़ तकरी करने धीरजगढ़ से बम्बई आकर ताजमहल होटल में ठहरे हुए थे। उनके साथ उनके कुछ मुसाहिब लोग भी थे। लड़ाई का ज़माना था। ताज का कोई कमरा खाली न था। तमाम कमरे लोगों से भरे हुए थे। ठाकुर हरनामसिंह बड़े चतुर पुरुष थे। उन्हें दुनिया का काफ़ी तज़रबा भी था : वे जानते थे कि जहाँ मुश्किलें आन पड़ती हैं उसे सिर्फ़ एक ही मंत्र से आसान किया जा सकता है। तथा वह मंत्र तो हरनामसिंह जी को खूब अच्छी तरह याद था। ईश्वर ने उन्हें उम्र मंत्र के सफल प्रयोग का सामर्थ्य भी दिया था। फिर क्या था ? ताजमहल होटल के दो कमरे फौरन खाली किए गए : और उनमें करणगढ़ की नवागता राजकुमारी बालचन्द्रिका तथा उनके दीगर कर्मचारी लोगों का आधिपत्य जमा।

जीवन में कभी कभी घटनायें बड़े ही विचित्र ढंग पर होती हैं। ऐसा भास होने लगता है कि कोई अजेय, अदृश्य शक्ति एक विशाल काले पर्दे के पीछे से सारी सृष्टि को अपनी चतुर, अँगुलियों द्वारा,

कठपुतलियों जैसी, नचा रही हो। मनुष्य निस्सहाय उस शक्ति के इशारों पर नाचता है : और, समय आने पर, उन्हें हटा कर, दूसरी पुतलियाँ लाई जाती हैं। उसी प्रकार, किन्हीं अमिट नियमों के अनुसार ही, इस सृष्टि का खेल निरन्तर चलता रहता है। मनुष्य की डींगें उस अन्तिम रहस्य को जान नहीं पाती : किन्तु मनुष्य कहता रहता है : “मैं यों करूँगा; यों न करूँगा, यों होने दूँगा, यों न होने दूँगा,” पर कठपुतलियाँ तो खुद किसी मदारी के संकेत पर नाचती रहती हैं, वे बेचारी किस विरते पर अपनी डींगों को सार्थक करें ? उनमें सामर्थ ही क्या है ?

अतएव, आज कई वर्षों बाद मध्य-हिन्दुस्तान के दो देशी राज्यों का इतिहास, जो किसी ढंग से लिखा जा रहा था, बम्बई में इकबारागी बदल गया; और वह अनहोनी, अनसुनी बात होकर रही जो धीरजगढ़ व करणगढ़ के स्वप्न में भी न आई थी।

जो कमरा राजकुमारी बालचन्द्रिका को दिया गया था वह उसी कमरे से लगा हुआ था जिसमें कि युवराज महेन्द्रसिंह ठहरे हुए थे। जब वह सिनेमा से रात के करीब चारह बजे ताज लौटे तो उन्होंने ग्राउन्ड फ़्लोर के लेडिंग के पास टँगे हुए बोर्ड पर यों ही नज़र दोड़ाई कि देखें कौन नये परिन्दे इस पिंजरे में आए हैं। सेकिण्ड फ़्लोर के रूम नं० ३२ में राजकुमारी बालचन्द्रिका ऑफ करणगढ़ ठहरी हुई हैं। उनकी आँखों को विश्वास न हुआ। वह तो अमेरिका में थीं। आज अचानक यहाँ कैसी ? युवराज की जिज्ञासा अकारण हठ पर तुल गई। उन्होंने फिर दोबारा बड़े सचेत भाव से बोर्ड को देखा। नहीं, कोई शक़्ती नहीं हो सकती। राजकुमारी बालचन्द्रिका ऑफ करणगढ़ ज़रूर बम्बई के ताजमहल होटल के रूम नं० ३२ में ही ठहरी हैं. . . .

युवराज महेन्द्रसिंह ने राजकुमारी बालचन्द्रिका को कुछ वर्ष पहिले सिर्फ एक मर्तबा शिमला में, एक झूलक, दूर से किसी दूकान में शॉपिंग करते देखा था। देखते ही उनका जिगर मसोस उठा था। वह शायद १९३६ के मई माह का ज़िक्र था। तब राजकुमारी की उम्र करीब अठारह वर्ष की थी। युवराज ने अपने साथियों से तब पूछा था : “तुम जानते हो वह तितली बनी हुई लड़की कौन है ?” उनके एक मुँह-लगे मुसाहिव महम्मद यूसुफ ने, जो रावलपिंडी का एक निहायत खुशामदी पठान था, झट जवाब दिया था : “आप इन्हें नहीं जानते, हुज़ूर ? ये करणगढ़ की शोख राजकुमारी बालचन्द्रिका हैं। क्यों, आपने कैसे पूछा, सरकार ? कुछ कहें भी। हम लोग आपके इरादों को पूरा करने की कोशिश करेंगे। आपका नमक और किसलिए खाते हैं, सरकार ?”

युवराज ने सहसा होश सम्हाला। ज़रा मुस्कुराकर बोले :

“वाह, भई यूसुफ, तुम भी बड़े मिठ-बोले हो।”

“क्यों नहीं, सरकार ?” वह बोला। “आप लोगों के दरबार में बातें तो किसी खुशनुमा ढंग से ही करनी चाहिएँ।”

“ज़रूर, लेकिन तुम ज़रा दायरे से परे होगए हो। तुम्हें मालूम होना चाहिए वह मेरी चचेरी बहिन होती है।”

यूसुफ हाज़िर जवाब था और युवराज की अच्छी तबीअत से खूब वाकिफ़। वह बहुत तपाक से, मगर निहायत अदब के साथ, बोला :

“मुआफ़ फ़रमाइएगा, सरकार, मैं जानता हूँ कि वह आपकी चचाज़ात हमशीरा है; मगर, गुस्ताखी माफ़ फ़रमाइए, हुज़ूर, परहेज़ तो सिर्फ़ दूध का ही होता है और इस नाज़ूक मामले में, बन्दा नवाज़

जब्त अक्सर नुकसान पहुँचाना है। गालियन हुज़ूर ने तो वह शेर सुना ही होगा :

‘जब्त का जिन्हें दावा इश्क़ में रहा अक्सर ।

हाल हमने देखा है बेशतर ख़राब उनका ॥’

युवराज साहब इस बिलबिलाहट को न सुन रहे थे। वह कुछ आगे बढ़ गए और, सनगलासेस को रुमाल से माफ़ करते हुए, अपने रिश्ता में, जो पास ही खड़ा था, जा बैठे।

आज अचानक बम्बई में राजकुमारी बालचन्द्रिका का नाम ताज-महल्ल होटल के बोर्ड पर पढ़कर महेन्द्रसिंह का हृदय, न जाने कैसे रस से भीन गया। स्नेहार्द्र कम्पित तथा अस्पष्ट वाणी में उन्होंने मन ही मन कहा : “बालचन्द्रिके, बालचन्द्रिके, क्या आज तुम मेरी बगल में ही आगई हो !” सहसा सम्मल गए। वे, लिफ्ट को भूलकर, तेज़ी से सीढ़ियाँ चढ़ते हुए अपने कमरे में दाखिल हुए। कपड़े उतार अपने पलंग पर जा पड़े। उनका अंग-अंग ढीला पड़ गया। आज हृदय में किम आनन्द चीणा के तार बज रहे थे ! युवराज की विचार-धारा का प्रवाह कुछ यों था : “बालचन्द्रिका, वह तो अब करीब चौबीस साल की होगी। उसका सौंदर्य उमड़ा पड़ता होगा। छः साल पहले जब मैंने उसे शिमला में देखा था तब तो उसने जवानी की देहलीज़ पर पैर रखा था। तब तो अपने खिलते हुए यौवन के प्रति उसकी जिज्ञासा भी शायद जाग्रत न हुई थी। किन्तु अब तो”

उधर राजकुमारी बालचन्द्रिका को, ताज पहुँचे बहुत घंटे न होने पाए थे, कि किसी तरह उसे पता लग ही गया कि बगल वाले कमरे में धीरजगढ़ के युवराज महेन्द्रसिंहजी ठहरे हैं। उसने भी युवराज को छः साल पहिले शिमला में ही एक रोज़ रिश्ता पर बैठे सड़क से गुज़रते

हुए, बहुत करीब से देखा था। हथेली की गरमी से पसीजे हुए बताशे की नाई उसका हृदय पसीज गया था। वह युवराज को देख मुग्ध होगई थी। पल भर के लिए विचार आया 'अदि यह सुन्दर युवक मेरे पति होने!' वह भावावेश में अस्थिर हो उठी थी। सहसा उसकी सखी प्रमिला ने, उसके मन की व्यथा को ताड़, उसकी ठाढ़ी पकड़ कर, हिलाते हुए, उस पर फव्वती कसी थी :

“क्यों, राजकुमारी जी, बस गए ना वह सलौने तुम्हारे मन में ? इसी अपने धीरजगढ़ के युवराज भैया से शादी रचाओगी ?”

राजकुमारी शरमा गई। यह भी निगोड़ी क्या मन की बात ताड़ गई। यों ही कुछ विरोध में, निरर्थक शब्दों का प्रयोग करते हुए, राजकुमारी बोल पड़ी :

“चल, प्रमिला, तू बड़ी बुरी है। मैं तो उस लंगड़े साँई बाबा की ओर देख रही थी।”

“रहने भी दो, गुइयाँ, मैं ऐसी भोली नहीं हूँ।”

इस चुहलबाज़ी पर दोनों सखियाँ खूब हँसी थीं।

आज रात अपने कमरे में बिस्तर पर पड़े, पड़े राजकुमारी बाल-चन्द्रिका के विचार तरह-तरह का ताना-बाना बुनने लगे। वह करवटें बदलती रही। दुनिया खामोशी के आलम में सोई हुई थी। उसकी आँखों में नींद न थी और हृदय में एक बवण्डर उठा हुआ था. . . .”

ताजमहल हाटेल ने दरिया के किनारे खड़े-खड़े, बहुत से रोमांस देखे हैं। पर आज रुम नं० ३२ और रुम नं० ३३ के बीच जो रोमांस होने जा रहा था वह तो बम्बई के इस शानदार हाटेल के इतिहास का ‘हाइलाइट’ ही बनकर रहा।

रात तो दोनों की करवटें बदलते ही गुज़री। जब सुबह ‘युवराज सोकर उठे तो उनका सर भारी भारी सा लगने लगा। किन्तु एक

सामा प्लेन भी तैयार था। क्यों न हो? जवानी की यह बला जिसे मुहब्बत कहते हैं एक चतुर इंजिनियर है जो अपना काम, बड़ी विकट कठिनाइयों के बावजूद, निहायत सूबी से कर गुज़रता है। युवराज महेन्द्रसिंह के हृदय में करणगढ़ की राजकुमारी बालचन्द्रिका की मनमोहनी तस्वीर, जो पाँच साल में कुछ धुँधली-सी होगई थी, आज फिर ताज़गी पा गई : और उनकी हसरत भरी कल्पना ने उसकी चढ़ती जवानी में छः साल का मादक रूप-रंग और भी मिला दिया था। उनके मन में उस मादक छवि के लिए प्रेम की बाढ़ आगई, व पीढ़ियों का बैर भाव क्षण भर में भूल गए और उनका स्नेहस्निग्ध मन जिज्ञासा तथा अनुराग से भर आया। दूसरे क्षण ही उनकी विचार श्रृंखला किसी और दिशा में काम करने लगी। उन्हें अपने पूर्वजों की मूर्खता के प्रति तीव्र घृणा हो चली—जिस कारण एक राजवंश के दो टुकड़े होकर आपस में इन दांनों ने एक दूसरे के लिए इतना ज़हर उगल डाला था। वे धीरजगढ़ के भाग्य को बार-बार धिक्कारते, करणगढ़ के लिए उनके हृदय में बहुत सहानुभूति और दया का संचार हो आया।

अपने मुसाहिव को बुलाकर युवराज महेन्द्रसिंह बहुत गम्भीर मुद्रा में बोले :

“क्यों, यूसुफ़ मियाँ, तुम्हें मालूम है कि बग़ल के कमरे में कल करणगढ़ की राजकुमारी आकर ठहरी हैं?”

यूसुफ़ मियाँ बड़े पते की खबर रखते—शिकारी कुत्ते जैसे ये खबरें सूँघा करते थे, झट बोले :

“मैं तो, हुज़ूर, यह कल १२ बजे दिन में ही जान गया था। गुलाम ने दशारा भी किया; लेकिन आपने गरीब परवर, कुछ तबज़ह न की।”

“इशारा किया था ? कब ? कैसा इशारा ?”

“कुछ नहीं, सरकार; यों ही कि बगल में कोई. . . .”

“खैर तो तुम्हें और क्या मालूम है ?”

“कि, सरकार, अपने अन्वयज्ञान की बीमारी का हाल सुनकर वह अमरीका से हवाई जहाज़ में उड़कर कल बम्बई पहुँची हैं। लेकिन, हुज़ूर, कल ही दस बजे रात उन्हें करणगढ़ के दीवान साहब का तार मिला है जिसमें यह खबर दी गई है कि अब राजा साहब की तबीयत अच्छी हो चली है। घबगाने की कोई बात नहीं है। और इसी वजह, हुज़ूर, मैं सुनता हूँ, राजकुमारी जी अभी चन्द्र रोज़ बम्बई में ही रहेंगी।”

“बात तो, यूसुफ़ मियाँ, तुम बड़े पते की रखते हो। आखिर किसी काम के ही आदमी हो यार तुम।”

यूसुफ़ अपने मालिक के मुँह से अपनी तारीफ़ सुन कर बाग़-बाग़ हो गया। उसके दिल में गुदगुदी-सी होने लगी; बड़ी मीठी-सी शक्ल बना कर, खुशी से अपने बदन को एक अजीब तरह से ऍठते हुए, वह बोला :

“मैं किस लायक हूँ, ग़रीबपरवर। आपकी जूतियों के पास रहकर आपका खाता हूँ और आपकी खिदमत बजा लाता हूँ। आपकी मेहरबानी है, बन्दानवाज़, वर्ना गुलाम तो एक नाचीज़ है।”

“नहीं, नहीं, यूसुफ़ मियाँ, तुम बड़े मज़ेदार आदमी हो।”

“हुज़ूर तो मज़ाक करते हैं। गुलाम इन्हीं क़दमों के ज़ेर-साये पड़ा है।”

“क्यों, क्यों, मज़ाक कैसा ? क्या तुम सच अपने आपको किसी लायक नहीं समझते ?”

“आपके लिए जिस रोज़ कुछ कर दिखा सकूँगा, हुज़ूर, उस रोज़ भले ही मैं आपकी जूतियों के लायक खुद को समझूँ। अभी तो आपका खाता हूँ और आपका नाम लेता हूँ; हुज़ूर बड़े मेहरबान हैं इस गुलाम पर।”

क्या रखा था इन झूठी बातों में ? युवराज ने जल्द अपने दिल का राज़ खोला; बोले :

“क्यों, यूसुफ़ मियाँ, अगर आज रात को ‘वे साइड इन’ में खाने के लिए राजकुमारी को दावत दी जाये तो बात कैसी रहे ?”

“मगर, हुज़ूर, वह पाजी हरनामसिंह उसे हमेशा घेरे जो रहता है।”

“अरे, वह बेवकूफ़ ? वह तो बड़ा शराबी है। कभी होश में भी रहता है। उसकी क्या फ़िक्र ?”

“झैर तो, हुज़ूर, आप चाहते क्या हैं ? बात तो ज़रा साफ़ साफ़ मुझसे कहें। सिर्फ़ दावत की बात है तो क्यों फिज़ूल तकलीफ़ की जाय और पैसा बरबाद हो ? हाँ, अलबत्ता, बात और कुछ हो तो...”

युवराज हँस पड़े। आज यूसुफ़ की बेहूदगी उन्हें बड़ी प्यारी लगी। दियासलाई की डिब्बी से एक लकड़ी निकाल, मसाले वाले छोर को अपने कान में ड़ील करते हुए बोले :

“देखो, यूसुफ़ मियाँ, यह अच्छी बात नहीं। तुम एकदम बहुत कुछ जान लेना चाहते हो।”

यूसुफ़ खिल पड़ा :

“मुआफ़ करें, हुज़ूर,” वह अपना नमक-हलाज़ी जताते हुए बोला; “मैं अब समझा। खयाल निहायत अच्छा है। तो करूँ सब इन्तज़ाम, सरकार ?”

“हम तो कहते हैं करो—और, देखा, आज ही का प्रोग्राम रखा।”

“हाँ, हुआ, आज ही—इन्शाअल्लाह ! बिस्मिल्लाह हिरहमान-निरहीम !”

राजा, महाराजा के मुसाहिब लोग खूब जानते हैं कि हाथ तो उनके तभी गर्म होते हैं जब किसी प्रोग्राम की तामीली उन्हें दी जाय ।

यूसुफ छटा हुआ मुसाहिब था । धीरजगढ़ के युवराज साहब क पास आने से पहले वह सैलानी के राज दरबार में रह चुका था । हरनामसिंह को तो उसने बातों बातों में ही गौठ लिया । उसे, खूब पिला कर, मदहोश बना, उसी के कमरे में रखा गया; और रात का प्रोग्राम ‘वे साइड इन’ में बहुत ही खूब के साथ किया गया ।

राजकुमारी बालचंद्रिका ने निमन्त्रण बढ़ी प्रसन्नता से स्वीकार किया था । वह बड़ी बेभिभक्त लड़की थी । उसकी पढ़ाई नैनीताल के सेंट मेरीज़ कॉन्वेंट में हुई थी, और यूरोप, अमेरिका में खूब भूम चुकी थी । अतएव वह सोशियल फन्क्शनस् में बिला रोक टोक शरीक होती और अपनी निहायत दिलचस्प गुप्तगू से लोगों को काफ़ी प्रवाहित करती ।

युवराज भ्रमर बन कर फूल पर मंडरा रहे थे । पर पुष्प भी तो अपने अतिथियों का सत्कार मधु और पराग से करता है । दोनों के हृदय में एक लौ लगी थी । वह बम्बई की मादक स्वच्छन्दता और अवकाश पाकर भड़क उठी । एक प्रचलित परिपाटी के प्रति दोनों को एक घृणा-सी होगई । दोनों अनुराग के पश में जकड़ गए ।

‘वे साइड इन’ के प्रोग्राम के बाद युवराज साहब राजकुमारी को अपनी कार में ‘ड्राईस’ में एक बढ़िया अँगरेज़ी पिक्चर, जो वहाँ बड़ी

धूम से तीसरे हफ्ते में चल रहा था, दिखलाने ले गए। यूसुक मियाँ ने उस रोज़ उस हाउस के ३ बॉक्स रिज़र्व कर रखे थे। बीच वाले बॉक्स में युवराज और राजकुमारी बैठी थी। और, दायें-बायें, दोनों बॉक्स खाली रखे गए थे। मुसाहिब लोग बालकनी में बॉक्स से नीचे क़रीब-क़रीब, फैले हुए, अपनी-अपनी सीट में बड़ी ख़बरदारी से बैठे हुए थे। इन लोगों को अंग्रेज़ी का एक शब्द भी न आता था : तथा इन्हें पिक्चर से कोई सरोकार भी न था। यूसुक मियाँ के इन्तज़ाम में किसी किसिम की ख़ामी रह जाय यह बात ग़ैरमुमकिन-सी थी।

बॉक्स में क़रीब पन्द्रह मिनट चुप बैठने के बाद युवराज बेचैन हो उठे। उनकी नज़र परदे पर क़तरई न थी। वे तो अपनी ही परेशानी को ले बहुत मशगूल थे। अपना समस्त स्नेह अपनी भाव-भङ्गिमा में उँडेलकर, साँकेतिक भाषा में, राजकुमारी से बोले :

“प्यारी बालचन्द्रिके, यह परीक्षा थी या प्रतीक्षा ?”

बालचन्द्रिका की बड़ी-बड़ी सुरमई आँखें नीचे को झुक गईं— वह शरमा गईं। शोख़ी उसके होंठों पर नृत्य कर रही थी। वह स्निग्ध-स्वर में कोयल जैसी कूकी :

“सुखमय साधना, मेरे देव।” सहसा यह सब कुछ उसे अभिनय जैसा लगा। वह ज़ोर से हँस पड़ी। युवराज परेशान थे। वह वास्तविकता थी—या केवल परिहास ?

पाँपिया सेंट की भीनी खुशबू महक रही थी। बल्कि वहाँ से धीमी सुगन्ध निकलकर तमाम बालकनी भर में फैल गई थी। सेंट के शौक़ीन, इस खुशबू को पहिचान मस्त हो, बगलें झाँकने लगे।

रुभाज द्वारा अनुचित मानी हुई अतृप्त वासनायें किसी अचेतन तर से दोनों की जीव-आत्मा में उमड़ पड़ीं। दोनों के होंठ सहसा मिल

गए, और ईश्वर की साक्ष में वे दोनों सदा के लिए एक दूसरे के होगए. . . .

बम्बई में इन दोनों की शादी वैदिक रीति तथा स्पेशल मैरेज ऐक्ट के अनुसार होगई । शादी की खबर सुन कर दोनों राज्यों की प्रजा बहुत प्रसन्न हुई । राजा प्रतापसिंह को जब यह संवाद मिला तो, लोग कहते हैं, कि उनकी बूढ़ी आँखों में बहुत-सा जल भर आया । अपने समझदार पुत्र की दूरदृष्टि और बुद्धिमानी का परिचय पा उनके आनन्द की सीमा न रही ।

करणगढ़ के राजा दिग्विजयसिंह यह सुख-वार्ता सुन अपनी रोग शय्या पर झट उठ बैठे (उनका रोग उसी दिन से काफ़ूर हो गया) उनका हृदय आनन्द से नाच उठा । अपनी रानी से बोले :

“मैं बधाई देता हूँ चन्द्रिका को । वर तो उसने खूब सोच कर ही चुना है । ”

रानी का हृदय गर्व और ममता से भर आया, कहने लगी :

“मैं न कहती थी ? तुम लाख लड़ो पर होगा वही जो ईश्वर करेगा । आखिर हुए ना एक के एक ? मर्द भी क्या लड़ाक मुरों होते हैं ! लड़ने बैठे तो सदियाँ गुज़र गईं बैर मिटने का नाम ही न लेता था । देखो आखिर मेरी चन्द्रिका ने ही तुम लोगों के मुँह पर करारा तमाचा मार दोनों घरानों को होश में लाया है । मेरी चन्द्रिका ! ”

दिग्विजयसिंह आज ठठोली कर गए । हँस कर बोले :

“तुम्हारी चन्द्रिका, अच्छा बाबा, तुम्हारी चन्द्रिका—मेरी नहीं । ”

इस सुखमय घटना ने एक राजवंश के दो घरों को, अभिशाप से छुड़ाकर, फिर आपस में मिला दिया; और अब तो इन दोनों रियासतों

में ऐसी गाढ़ी मित्रता होगई है कि मानो इनमें कभी ना-इत्तफ़ाकी ही न हुई हो । सुनते हैं राजा दिग्विजयसिंह ने राजा प्रतापसिंह से बड़े विनयपूर्वक अनुरोध किया है कि दोनों राज्य फिर से एक हो जायें और वह धीरजगढ़ नाम से ही पुकारा जाय । प्रस्ताव तो युवराज के पिता ने बड़ी प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया । पर सुनते हैं, एजेन्ट ने इस प्रस्ताव में बहुत सी आपत्तियाँ निकाली हैं, तथा इन रियासतों का धुल मिल जाना ब्रिटिश सरकार की नज़र में न सिर्फ़ ग़ैरमुनासिब ही है, बल्कि निहायत ग़ैरसुमकिन !

गोंददान

शायर न थे सही, लेकिन, खुदा जानता है, दिल तो शायर का ही लेकर रफ़ीक़ अनवर पैदा हुए थे। नज़्में भले ही न लिखते हों, पर इसमें क्या शक है कि ख़्वाब तो वे शायरों के ही देखा करते थे। तबीअत में रंगरेली, जोश, आशिक़ाना, जज़्बात और ज़िन्दा-दिली, ये चीज़ें तो ठूँस ठूँस कर भरी थीं।

अनवर मियाँ, सुनते हैं, देहली के किसी पुराने मशहूर शायर के ख़ानदान से अपनी पैदाइश का सिलसिला मिलाते थे। पता हमको इनकी एक ही पुस्तक है, और वह ये है कि अनवर के मरहूम अब्बाजान, मुहम्मदयारखाँ, मसूरी के किसी नामी होटल में बरसों यावर्ची का काम करते रहे; और, चन्द साल हुए, लाहौर में एक मोटर के नीचे आगए थे। वहाँ किसी हस्पताल में कुछ माह बीमार रहे और आख़िर उसी जगह उन्होंने अपना दम तोड़ दिया।

अनवर उस वक्त करीब तेरह साल का था। माँ तो ग़रीब की, जब वो बारह माह का भी पूरी तौर से न हो पाया था, गुज़र चुकी थी। ख़ुदा की फ़जल से अनवर ने अपने वर्ज़ाफ़ों के ज़ोर पर ही शुरू से आख़िर तक, तालीम पाई। अभी छः साल हुए उसने अलीगढ़ युनिवर्सिटी से एम. ए. की डिग्री ली थी, और, चूँकि परशियन ले रक्खी थी, उस ज़बान में वो काफ़ी अच्छा इल्म रखता था।

एम. ए. पास करने के बाद एक साल तो अनवर यों ही घूमता फिरता रहा। कहीं तबीअत के लायक़ नौकरी न मिली; पर जल्द ही

उसे लखनऊ के चीफ़ कोर्ट में ट्रॉन्सलेटर की काफ़ी आराम व आमदनी की जगह मिल गई। डेढ़ सौ रुपए पर लिया गया था, पाँच साल की नौकरी के बाद, उसे चार सौ रुपए माहवार मिलने लगा।

अनवर मियाँ के रिश्तेदारों में सिर्फ़ एक दूर के चचाज़ाद भाई थे, अब्दुल हमीदख़ाँ, जो उम्र में उससे एक साल बड़े थे। भागलपुर में रंग की आदत करते थे। उनकी एक निहायत शायराना तबीयत की बीबी थी, बेगमा। बड़ी शोख़ और दिल-फेंक। लेकिन हमीद को तो बाहर की चाट लगी थी। वह दूर का शिकार करता।

दुनिया में दोस्तों के बीच बहुत खुश रहते हुए अपनी हसरत भरी ज़वानी ऑफ़िस और घर के दरमियान काट देने को अनवर मियाँ बड़े मज़े में तैयार थे। पर जब, उसी अरसे में, अब्दुल हमीद भागलपुर से चंद रोज़ के लिए लखनऊ आकर अनवर मियाँ के साथ ठहरे तो उससे कहा : ‘अनवर, लानत है तेरी ज़िन्दगी पर। चारसौ कमाने पर भी ये मनहूस तनहाई; अमाँ, शादी कर, शादी। ज़िन्दगी कामज़ा तो चख़।’

अनवर हमीदमियाँ से क्या लिहाज़ करता? हमउम्र थे दोनों : बेम्बिभक दोनों ने आपस में सब कुछ कह-सुन डाला—कुछ सारीअसली कुछ मज़ाक में।

एक रोज़ यों ही बात छिड़ने पर अनवर पूछ बैठे :

“क्यों हमीद मियाँ, तुम्हें मेरे सर की क़सम है, सच कहना। वाक़ई भाभीजान में तुम्हें बड़ा मज़ा आता है? तुम तो उन्हें पाकर खुश हो ना?”

हमीद हँस कर सिगरेट जलाता और, बड़े ज़ोर का कश लेकर जवाब देता :

“पागल तो नहीं हो गया है तू, अनवर? ये भी कोई पूछने की बात है? मेरी बेगमा तो शकर की डली है, शकर की। आते ही उसने

मेरी जिन्दगी के बदमज़ा पानी को एकदम शर्बत बना दिया है। क्या ग़ज़ब की चीज़ है, यार, एक अच्छी बीवी भी !”

अनवर मियाँ तबीअत से शायर थे ही। अपने चचाज़ाद भाई की निहायत शीरीं तर्ज़े-बर्था में उसे लुफ़् ही आगया। कुछ देर तो वह होंठों को दाँतों से काटता-सा रहा, गोया कुछ चूस रहा हो। आँखें आगे रखे हुए पानदान पर चिपकी रहीं; उसी तरफ़ देखते हुए बोला :

“तो, यार, हम भी करेंगे शादी। हमने कब क़सम खाई है न करने की। है कहीं तुम्हारी नज़र में—कोई—मेरे लायक ?”

हमीद का चन्दूल फँसने को तैयार था। हमीद के मुँह में पानी छूटने लगा।

“वाक़ई, करेगा शादी ?” हमीद, अपनी हल्की मूँछों की हल्की ‘एचिंग’ पर अपनी बीच की अँगुली बड़ी सफ़ाई से फेरते हुए, बोला :

“हाँ, हाँ, करेंगे। कह तो दिया,” अनवर ने जवाब दिया।

“तो मुझ पर छोड़, मैं करता हूँ इन्तज़ाम। कौन सी मुश्किल बात है ? बाँके जवान हो, मोटी तनफ़्वाह है, इल्म है, कौन ऐसी बेवक़ूफ़ लड़की होगी जो तुमसे शादी करने से इन्कार करेगी ?”

“यह तो मैं मानता हूँ। लड़की को तो मैं शायद आसानी से पसन्द आजाऊँगा, मगर मुझे लड़की पसन्द न आई तो ?”

“याने तुझे कैसी चाहिए ?”

अनवर मियाँ हँस पड़े। हमीद मियाँ ने ज़रा सीरिअस शक्ल बनाकर कहा :

“अबे, हँसता क्यों है ? सच मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि तुझे बीवी कैसी चाहिए। कुछ मैं भी तो सुनूँ। आखिर बीड़ा तो मैंने ही उठाया है।”

“मुझे अठारह साल की निहायत खूबसूरत बीवी चाहिए ।”

“अच्छा ।”

“और अङ्गरेजीदाँ ।”

“अच्छा ।”

“और रोमेन्टिक ।”

“बहोत खूब ।”

“और चुलबुली ।”

“बाह भाई !”

“और निहायत तन्दुरुरत ।”

“और कुछ ?”

“तो क्या मेरी माँग कम है ? तमाम दुनिया भर की नियामतें तो मैंने एक ही बीवी में माँगली हैं। कहां, हैं हिम्मत—कि कच्चा काट गए ?”

हमीद मियाँ ने सिगरेट का गुल बड़े इतमीनान के साथ पानदान में ही झड़ाया, और मुस्कराते हुए बोले :

“क्यों, क्यों ? कच्चा क्यों काटने चला मैं ? इन्शा अल्लाह ! ऐसी ही बीवी दूँगा तुझे। वाकई, अनवर, ऐसी ही बीवी। मगर भई, देखो, दो आँखों वाली न हुई तो एक आँख वाली से ही निपट लोगे ना ? शर्न तो तुम्हारी दो आँखों नहीं है ।”

दोनों दीवाने इस मजाक पर खूब हँसे ।

अनवर अपने अच्छे भाई से झुककर लिपट गया । बोला :

“मेरे बड़े अच्छे भाई जो हो । खुदा तुम दोनों को लम्बी उम्र बरसे !”

हमीद मियाँ के दिल में अनवर के लिए कुछ मुहब्बत ज़रूर थी । वह नकाब-पोशी से नफ़रत करता था; तहेदिल से उसे इस गरीब

भाई के लिए हमदर्दी थी, जो जवानी में ही, अपनी हविस से मायूस होकर, अपने दिल के उठते हुए बलबलों का गला घोटता और फिज़ूल अपना तिशनगी की तौहीन करता। अच्छी-रिश्तेदारी न होने की वजह बेचारा मजबूर था।

हमीद मियाँ जब भागलपुर वापस जाने के लिए तैयार हुए तो फिर क्रुदरती तौर पर बात का सिलसिला दुबारा जारी हुआ। अनवर कुछ बेताब-सा रहने लगा था। मौक़ा पाकर बोला :

“तो फिर वादा आपका रहा न ?”

“तुम्हे बीवी दिलाने का ?”

“हाँ।”

“जरूर। इन्शा अल्लाह, इसी रमज़ान शरीफ़ में तुम मियाँ-बीवी साथ सेवइयाँ खाओगे।”

हमीद मियाँ बड़े मज़े में चचा-चचा कर अलफ़ाज़ अपने मुँह से निकाल रहे थे, मानों अनवर की होने वाली बीवी के साथ खुद ही सेवइयाँ खा रहे हों।

अनवर के दिल में गुदगुदी-सी हो रही थी। उसकी अलसाई हुई तबीअत को ख़्वाह-म-ख़्वाह हमीद मियाँ ने जगा दी थी। बीवी का रिश्ता शर्वत और सेवइयों से किमी तरह मिलाते हुए, उन्होंने अनवर की ज़वान से राल टपकाने की शरारतन कोशिश की थी। अब अनवर ने हमीद मियाँ की गर्दन ही पकड़ली, गोया वह कह रहा था : “मियाँ, दो अब हमें बीवी।”

अनवर बहुत खुशामदाना अदा से बोला :

“हमीद भाई, आप ही तो मेरे सब कुछ हैं। और कौन है दुनिया में मेरा ? आप मेरे वालिद जैसे हैं और वह मेरी वालिदा। आप लोग ही मुझे न निभाएँगे तो और कौन निभाएगा ?”

हमाद को खुशामद हरगिज पसन्द न थी। बड़े रुखेपन से झिड़क कर बोला :

“अबे रहने दे चापलूसी बातें। मैं अपना ऋजु समझ कर, कर कर दूँगा जो कुछ मुझसे बन पड़ेगा। मैं डींगें नहीं मारा करता। लिखूँगा तुम्हें भागलपुर जाकर। जान न खा।”

हमीद मियाँ की कोशिशें बेकार साबित न हुईं।

अनवर मियाँ की शादी तीन माह के भीतर ही अलीगढ़ में निहायत मॉडर्न स्टाइल से होगई। अलीगढ़ के पेन्शनयाफ़ता फारेस्ट ऑफिसर मुहम्मद सरवर साहब की दूसरी लड़की जैनब बी से। यह लड़की साल गुज़रता ही अलीगढ़ युनीव्हर्सिटी से बी. ए. पास हुई थी। निहायत हमीन, तन्दुरुस्त, चुलबुली और मज़ाक-पसन्द : उम्र अनवर की माँग से दो साल ज़्यादाह, याने बाँस साल की थी। हमीद मियाँ जैनब बी को पिछले साल से जानने लगे थे। जैनब अपनी बड़ी बहन खुशीद बानू से, जो भागलपुर में लेडी डॉक्टर थी, मिलने अक्सर आया करती थी। लेडी डॉक्टर के घर हमीद मियाँ, साथ अपनी बीवी के, टेनिस खेलने जाया करते थे। जैनब और हमीद में काफ़ी गहरी दोस्ती होगई थी।

अनवर मियाँ की शादी में हमीद मियाँ और उनकी शोख बीवी तो शरीक थीं ही, लेकिन खुशीदबानू भी भागलपुर से आई थीं। इन तीनों ने अनवर को अपनी फ़वतियों से खूब तंग कर रखा था। अनवर ने अपनी भाभीजान को इस मौक़े पर पहली बार देखा था। बेगमा शायरी करती थीं। उसके अशआर पर तां वह दिलोजान से फ़िदा था। मौसम बहार का था। कोयल ने अपनी कूक़ से, जो घर के बाज़ूवाले घने आम के दरख़्त से अपना कलेजा निकाल रही थी, अनवर मियाँ के जिगर में एक टीस-सी भर दी थी—कमबख़्त कहाँ

से इतना दर्द भर लाती है और आशिकों के ज़ुलूमों को अपने अफ़सानों में कुरेदती है ! जैनब को देखकर अनवर को शर्बत की सूझती; पर अपनी भाभीजान को देखकर उसे सेवइयाँ याद आतीं । अनवर दिल ही दिल दोनों से शादी करता । दिल उसका शायर का था; मिज़ाज आशिकाना; और फिर उस पर सवार जो थी कमबख़्त जवानी ! वह जैनब को पी जाने के लिए बेकरार हो उठा—भाभीजान को सड़प जाने के लिए बेमव्र । शरबत और सेवइयाँ, इन दोनों में लुप्त है अगर ज़बान में चखने की हसरत हो ।

बेपरवाह बेगमा अपनी शायरी से हुस्न-परस्त अनवर के जज़्बातों को बुरी तरह कुरेदकर अपने शौहर के साथ, शादी ख़त्म होते ही भागलपुर चल दी । उसे इतमीनान था कि, उसकी हरकतों के बाद अनवर अपनी नयी जोरू को पाकर भी, उसके (बेगमा) के तसौवर को न भूल सकेगा । (क्या शरारत सूझी थी कमबख़्त को !) लेकिन अनवर के दिल में तपिश पैदा करके खुद भी तो उसी मज़ में फँस चुकी थी ।

बेगमा का क़यास ग़लत निकला । अनवर मियाँ और जैनब लखनऊ आकर अपने घर में आराम से शहवत-परस्ती में ज़िन्दगी के मज़े लूटने लगे । बेगमा को कुछ दिनों के लिए भूल-से गए ।

अनवर अपने दिव्य ही दिल में कहता : “सच कहता था हमीद यह कमबख़्त औरत भी क्या मज़े की चीज़ है ! मैं अब तक क्या ख़ाक जिआ किया ? जी तो मैं अब रहा हूँ । जैनब ने मेरी ज़िन्दगी के घदमज़ा पानी को, शरबत नहीं, आवे-बका बनाया है । शान है उस पाक परवरदिगार की, उसने आदम के लिए हूरों को ईजाद किया । चरना इनसान का जीना और भाँड़ भोंकना बराबर ही होता ! क्या करता वह — दीवार से टकराता ?”

हमीद मियाँ का खत भागलपुर से जल्द आया। लिखा था :

“क्यों, मियाँ अनवर, बीबी कैसी दी तुझे ? न कहना !

“लेकिन ज़रा आहिस्ता आहिस्ता चलना। बहोत खालोगे तो पेट फूल जाएगा। बदन हज़मी हो जाएगी। ज़रा सम्हलकर, मियाँ।

“तुम्हारी भाभीजान तुम दोनों को हज़ार दुआएँ भेज रही हैं।

“खुदा हाफ़िज़।

“तुम्हारा

“—हमीद।”

अनवर जवाब लिखने बैठ गया। दिन इतवार का था। फुर्त मिल गई। जवाब यों था :

“भाई जान,

“आपका खत मिला। हज़ार शुक्रिया। मैं आप दोनों का एहसान न भूलूँगा। वाक़ई ज़ैनब जैसी बीबी पाकर मैं अपने को बड़ा ही खुश किस्मत समझता हूँ। वह बड़ी ही अच्छी है।

“मेरी रफ़्तार के बारे में आप फ़िक्र न करें। मैं खा भी ज्यादा लूँ तो हर्ज न होगा। हाज़मे की गोलिएँ भी साथ रखता हूँ।

“आपको मेरा बहोत बहोत आदाब। भाभीजान को मेरा लव्ह।

“आपका

“—अनवर।”

ज़ैनब बी अपने शौहर के लिए स्वेटर बुन रही थी। खत लिखा जा रहा था किसी को। झट सलाइयाँ बाज़ू रख, अनवर मियाँ की मेज़ के पास जा, उससे सटकर खड़ी होते हुए, ज़ैनब ने पूछा :

‘कहिए किसे खत लिखा जा रहा है आज ?’

अनवर मियाँ खत को लिफाफे में रखना ही चाहते थे; रुक गए ।
अपनी बीवी की शक्ल को देख भाँप गए की माजरा क्या है । बोले :

“अपने भाई जान को ।”

“या अपनी भाभी जान को ?”

“हाँ । उन्हें भी इसमें प्यार भेज रहा हूँ ।”

“मैं पढ़ूँ ?”

“ज़रूर । क्यों आपको रश्क हो रहा है ?”

“रश्क ? क्यों, मुझे भला क्यों रश्क होने चला ?”

जैनब ने खत पढ़ा । मुस्कुराकर उसे फिर लिफाफे में रखते हुए
मीठा-मीठा मुँह बनाकर उसने कहा :

“भाभीजान को मेरा लव्ह !”

“क्यों, और क्या लिखता ? आप सुझाइए ना ?”

“मैं क्या सुझाऊँ मर्दों को ? वे खुद सब जानते हैं ।”

अनवर मियाँ ने अपनी बीवी को निहायत आशिकाना अदा से
अपने पास खींचकर, अपना हाथ उसके गले में डालते हुए कहा :

“प्यारी जैनब, तुम मुझसे नाराज़ होगई हो ?”

“यह क्यों ?”

“क्योंकि मैंने भाभीजान को लव्ह भेजा है ।”

“भेजिए ना तो । मैं क्यों नाराज़ होने चली ?”

“शायद इसलिए कि आम तौर पर यह यक़ीन किया जाता है कि
शौहर को अपने तमाम लव्ह का खज़ाना अपनी बीवी के लिए ही
रिज़र्व रखना चाहिए ।”

“मैं तो इस ‘कोड’ की क़ायल नहीं ?”

“तो आप किस कोड की क़ायल हैं ?”

“कि शौहर और बीवी दोनों अपना लव्ह चाहें जिसे दे सकते हैं।”

अनवर मियाँ का हाथ, जो जैनव के गले में था, ढीला पड़ गया ।
बोला :

“यानी ?”

“यानी दोनों ‘फ़ी’ हैं ।”

“वह कैसे ?”

“अनवर डियर, बनो ना । तुम तो जानते हो ।”

“वाकई मैं न समझा ।”

“सूठ ।”

“तुम्हारी जवानी की कसम ।”

“मेरी जवानी की कसम न खाइए । अपनी भाभी जान की जवानी
नी खाइए ।”

“वाकई मैं न समझा ।”

“लो तो मैं समझाए देती हूँ । तुम मुझ पर कुर्बान हो ना ? हाँ,
मैं जानती हूँ कि तुम हो । लेकिन तुम अपनी भाभीजान पर भी कुर्बान
हो । ‘ना’ न कहो । मैं जानती हूँ कि तुम उन पर भी कुर्बान हो । तो
तुम क्यों न हम दोनों को अपना प्यार दे सको ? क्यों शौहर बँध जाए
किसी से ? क्यों बीवी बँध जाए किसी से ? सच्ची मोहब्बत बे-नियाम
होती है ।”

अनवर मियाँ को तारे नज़र आने लगे ।

“यानी ?” वह बोला ।

“आप नये खयालात के हैं या पुराने ?”

“मैं शरीफ़ खयालात का हूँ ।”

“वह क्या बला है ?”

“वह है सीधा मज़हब और इन्सानियत का रास्ता ।”

“और मैं पूछ सकती हूँ कि टेढ़ा रास्ता कौनसा है ?”

“कि बीवी अपने शौहर के अलावा किसी दीगर पर डोरे डाले ।”

जैनब मौका तलब ही थी । झट मुद्दे को पकड़ कर, बोली :

“या यों कहिए कि शौहर अपनी बीवी के अलावा और किसी पर अपनी नज़र डाले ।”

अनवर बन रहा था । वह वाकई निहायत आज़ाद खयालात का आदमी था । अपनी जैनब को सीने से चिपका कर, उसने उसका मुँह चूम लिया । बोला :

“मेरी मिज़ाजो, मैं तुम्हें जान गया हूँ । तू अब मुझसे क्योंकर अपने दिल का राज़ छिपा सकेगी ।”

“मेरे दिल का राज़ ? सुनूँ भी वह क्या है ?”

“तू मुझ पर कुर्बान है ।”

“आपको यकीन आगया ?”

“और तू उस पर भी कुर्बान है जिस पर मैं हूँ ।”

“तो फिर आप मुझ पर कुर्बान हैं और उस पर भी जिस पर मैं कुर्बान हूँ ।”

अनवर का सर चक्कर खाने लगा । उसकी बीवी तो पहेली बुझा रही थी । वह बोला :

“तुम और किस पर कुर्बान हो ?”

सचाई मज़ाक का नकाब पहने हुए आगे आई ।

“आप की प्यारी भाभीजान के प्यारे शौहर पर ।”

अनवर शूतुस-मुर्ग की तरह अपना सर रेत में गाड़ कर अपने आप को खतरे से बाहर समझ बैठा ।

“झूठ !” उसने कहा ।

“कहते रहिए ना।”

“झूठ।”

“हाँ, हाँ कहते रहिए।”

“जैनब ?”

“बोलिए।”

“तुम झूठ बोल रही हो।”

“या अल्लाह, तो झूठ ही सही। क्यों फिज़ूल परेशान होइएगा ?”

“कहो भी—सच या झूठ ?”

“क्या रक्खा है इसमें ? जाने भी दीजिए।”

“नहीं, तुम्हें बताना ही होगा।”

‘तो सुनिए। क्या आप ज़िन्दगी को समझ पाए हैं ? शायद तो आप ज़रूर हैं। मैं कहती हूँ कि आप खुद अपने को नहीं समझ पाए हैं। और न मैं ही अपने को जानती हूँ। हमारी कोरी डींगों से क्या हासिल ? क्यों ख़्वाह म ख़्वाह झूठ बोला जाए ? इनसान का दिल बड़ी पाजी चीज़ है। अपने आप को उल्लू बनाता रहता है। अक़लमन्द इनसान इसकी हरकतों को कभी किसी कोड से रेग्युलेट करने की फिज़ूल कोशिश नहीं करते। नाहक सर क्यों पटकते हैं आप ? बात तो सीधी है, और आप ख़ूब समझे बैठे हैं। फिर क्यों नाहक ज़िद किए जा रहे हैं ?”

अनवर मियाँ का ‘फ़ीलर’ सही निकला। वह तो दिल-जोई कर रहा था। ज़िन्दा-दिली से अपनी बीवी के अन्दरूनी जज़्बातों की थाह ले रहा था। क्योंकि मायूस होता ? उसे जैनब की दलील में बड़ा ही मज़ा आया। जैनब को दुबारा अपने सीने से लगाकर उसकी आँखों को बार बार चूमने लगा। फिर गिटपिटाया : “तो करदूँ लिफ़ाफ़ा बन्द ? अरे गोददान कहाँ है ?”

थोड़ी देर बाद हाथ में लिफाफा लिए जैनब की तरफ़ शराबी जैसी आँखों से घूरते हुए वह बोला :

“तुम मेरी वन्दरफुल जैनब हो ।”

“ज़रूर हूँ ।”

जैनब अपने अनवर को खूब समझने लगी थी । मुस्कुराई । उसकी भी आँखों में शरारत थी । वह खिली जा रही थी ।

“बोलो भी,” अनवर ने पतंग को ज़रा ढील दी । देखें तो किधर को पेंच खाती है ।

जैनब ‘मेलिंग-पॉइंट’ को पहुँच चुकी थी ।

“तुम भी तो मेरे वन्दरफुल अनवर हो ।”

जैनब की बड़ी बड़ी सुरमई आँखें हँसरही थीं । अनवर ताड़ गयी । अब जैनब की कमान भी तन चुकी है !

अनवर झट उठ खड़ा हुआ । बग़ैर पिए नशे में चूर था । मतवाले की तरह झूमते हुए वह अपने बेडरूम में दाखिल हुआ । वहाँ से आवाज़ दी :

“जैनब, जैनब, यहाँ गोंददान था कहाँ है ?”

अपने शलवार का इज़ारबन्द जो कमर के गोश्त में चुभ रहा था, ढीला करते हुए, जैनब उठ खड़ी हुई । अँगड़ाई ली; और, बतौर सिगनल के, खिलखिलाकर हँस पड़ी । मर्दों की मदहोशी को देखिएगा—बेडरूम में गोंददान ढूँढ़ने बैठे ! उसका गुलाबी दुपट्टा सीने पर से खिसक गया । कान के बड़े बड़े बाले सर की हरकत के साथ, ढोल रहे थे । आगे के कुछ बाल उसके गोरे गालों पर उतर आए थे, मानों उन्हें चूम रहे हों । बड़ी इठलाती, लचकती, बलखाती मस्त चाल से बेडरूम की तरफ़ जाती हुई वह चहचहाई :

“अजी—तुम—भी—क्या—ऐसे—बेसब्र—हां—बैठे ? आती—तो—हूँ ।”

कुछ ही दिनों बाद जैनब की सेहत में यकायक फर्क हो चला । उसका रंग पीला पड़ गया, भूख जाती रही, और हाज़मा बिगड़ता सा गया । डॉक्टर से इक्ज़ामिन कराने पर पता चला कि जैनब हैमिली है । अनवर मियाँ तो मारे खुशी के फूल कर कुप्पा हो गए । जल्द अपने एक खत में यह खुश ख़बरी लिख भेजी अपने प्यारे हमीद भाई को । दिन गिने जाने लगे ।

निकाह को अभी पूरे चार माह न होने पाए थे कि अनवर मियाँ की बीवी के एक निहायत ख़ूबसूरत बच्चा पैदा हुआ । एँ यह कैसे ? अनवर मियाँ पर बिजलियाँ गिर गईं । दोस्तों ने मुबारकबाद दी और साथ ही निहायत हल्के इशारों से अनवर मियाँ को ख़बरदार किया कि अपनी बीवी की तरफ़ से ज़रा आगाह रहे ।

अनवर का जीना मुहाल होगया । वह बेचारा जो गिरा बहिश्त में तो सीधा दोज़ख़ में ही जा टपका । वह जैनब में बिलकुल घुल-मिल गया था । जैनब के मुँह की ओर देखता तो उसे जैनब का वह जवाब याद आता : “आपको यकीन आगया ?”

उधर जब हमीद मियाँ ने अनवर की बीवी के बच्चा पैदा होने का हाल, जो उसने लखनऊ से अभी आए हुए एक दोस्त से सुना था, अपनी बेगमा को सुनाया तो वह भी हैरत खाकर रह गई । उसने अपने शौहर को ख़ूब फटकारा । वह बोल ही तो उठी : “यह सब आपकी ही कारगुजारी है । मैं अब समझी ! जैनब की ज़िन्दगी बिगाड़ ही चुके थे, अब अपने भाई को भी बरबाद कर दिया । बड़े ही बेरहम और खुदगर्ज़ हैं जी आप ।”

हमीद हँस रहा था । बेगमा के गले में हाथ डाल कर वह बोला :

“अनवर को तो मेरा एहसान मानना चाहिए कि मैंने उमे 'रेड-मेड' बीवी दी।”

बेगमा ने अपने शौहर का हाथ झटक कर कहा :

“ऐसी गन्दी बातें करते आपको शर्म आनी चाहिए।”

हमीद ने बेगमा से आँख मिलाई। उसके दिल में शुबह की एक चिनगारी-सी चमक उठी। अनवर के लिए बेगमा के दिल में इतना दर्द ? कहीं उस पर तो नहीं मरती है कमबख्त यह !

जैनब ने अनवर पर जादू कर रखा था। और अब दोनों के दर्मियान इस बच्चे ने आकर इन्हें मोहब्बत की जंजीर में और भी जकड़ दिया।

अनवर और जैनब जब आपस में बैठकर चुहलबाज़ी करते तो अनवर कहता :

“तू मुझ पर क़र्दान है।”

जैनब मुस्कराकर जवाब देती :

“आपको यक़ीन आगया ?” और तब थोड़ी देर के लिए अनवर हमीद की शक्ल अपनी आँखों के आगे देखता और भीतर ही भीतर कह उठता : “तुम बड़े पाजी हो।” लेकिन जैनब को देखकर कहता : “अच्छे ही हो, हमीद भाई। जैनब तो तुम्हीं ने मुझे दी। खुदा तुम्हें लम्बी उम्र बख़्शे।”

रमिया की गाय

पौ फटते-फटते रमिया की गाय के प्राण निकल गए । रमिया ने रात भर उसी गाय के कोठे में, अपनी प्यारी गाय के पास बैठे-बैठे, कई किस्म की दवा, जड़ी-बूटियों का प्रयोग किया । पर सब निष्फल हुआ । रमिया का बाप और रमिया की माँ को बहुत दुःख हुआ कि ऐसी गरीब, दुधारू गाय देखते-देखते उनके हाथ से निकल गई । पर रमिया के हृदय की वेदना तो बड़ी ही मार्मिक एवं करुणाजनक थी, क्योंकि इस गाय का पालन-पोषण पिछले दो वर्ष से इसी ने अपने हाथों बड़ी ममता और लगन से किया था । आज अचानक कुछ ही घंटों में यह उसकी अच्छी गाय, रमिया के दुलार और सेवा को भूल, चल बसी । रमिया तो फूट-फूट कर रोने लगी । लोगों ने बहुत समझाया : “बेटा न रो । यह किसी के बस की बात थोड़े ही है । तेरे दहा फिर तुझे दूसरी गाय ला देंगे ।” पर रमिया के आँसू तो थमते ही न थे । उसकी माँ स्वयं रोती और अपनी बेटी को समझाती : “बेटी मति रो । अब क्या रोने से गंगा आने चली है ? वह तो गई बेचारी । तूने बहुत किया, बेटी, उसके लिए । वह तो तुझे वहाँ से आशीर्वाद देगी । तेरे दहा और दूसरी गंगा तुझे ला देंगे । क्यों अपना मन उदास करे है ?” और गई गंगा की याद कर माँ-बेटी दोनों और जोर-जोर से रो पड़तीं ।

रमिया का बाप पलोरा गाँव का एक बड़ा नेक व गरीब किसान था । इसका बाप कई वर्ष हुए, दुकाल पड़ने पर, बासिम से भागकर

पलोरा में आ टिका था; और तबसे इसी गाँव में उसकी सन्तान पली। रमिया का बाप बड़ा ही सीधा और मिहनती किसान था। कभी किसी के लेने-देने में न रहता। अपना काम भला और अपन भले—इसी सिद्धान्त पर यह गरीब अपनी जीविका एक छोटे-से खेत से, चार माह हड्डी-तोड़ मिहनत कर, अपने परिवार के लिए अन्न द्वारा निकाल लेता; और एक बैलगाड़ी किराये पर चला कर साल भर में तीन-चार सौ रुपए गाँठ में बाँध लेता। खाने वाले केवल तीन प्राणी थे—उसकी स्त्री, रमिया और स्वयं वह। बड़ी काट-कसर से काम लेता और अपना थोड़ा-सा धन अपनी झोपड़ी में, ज़मीन के भीतर, गाड़ रखता।

तीज-त्यौहार पर जब कभी रमिया का बाप (नाम तो इसका गेंदा था, पर उसे रमिया-का-बाप के नाम से ही लोग पुकारते, तथा हम भी इसे, गेंदा न कह कर, रमिया-का-बाप के नाम से ही आगे उल्लेख करेंगे), रमिया की माँ के लिए कोई धोती-कपड़ा बाज़ार से खरीद लाता तो माँ उसे रमिया को दे देती, कहती : “ले बेटा, रमिया, तू ले। पहन यह धोती। मेरे क्या अब पहनने-ओढ़ने के दिन रहे ?” रमिया का बाप बोल उठता : “अरे, अरे इसे तू रख। मैं अपनी रमिया के लिए अगले बटवारे पर और ला दूँगा। रमिया बड़ी समझदार है—मेरी रमिया।” रमिया वाक़ई बड़ी समझदार लड़की थी। रुट बोल पड़ती : “हाँ, हाँ, दहा। अभी तो पहिनने के लिए मेरे पास है। अपन बारी बारी से पहनँगे, माँ, बोल, है ना ?” माँ की आँखों से आनन्दाश्रु निकल पड़ते। कैसी ममता-शील लड़की है यह !

रमिया, लोग कहते हैं, अपने बाप के खेत में ही जन्मी थी। इसकी माँ साँझ की बेला खेत में काम कर रही थी जब प्रसव वेदना के

कारण वह घर नहीं पहुँचाई जा सकी, और रमिया ने मकई के भुट्टों के बीच इस संसार में पदार्पण किया। रमिया का जन्म खुली हवा में संध्या की शीतल, मधुर, स्निग्ध किरणों में हुआ था, अतएव, रधिया का सौंदर्य बहुत ही सुहावना था। पल्लोरा के एक छोटे से किसान के घर रमिया जैसा रत्न भी ईश्वर दे देता है—उसकी महिमा तो अपरम्पार है।

रमिया के माँ-बाप ने इस लड़की को बड़े दुलार से पाला था। स्वयं आधा पेट खाकर उन्होंने इसे छोटे-से बड़ा किया। यह लड़की जब आठ साल की भी न थी कुछ ऐसा कहती-करती, कि दोनों देख-सुनकर चकित हो जाते। इसके हृदय में दया का संचार तो जब यह पाँच वर्ष की भी न थी तभी से हुआ। यह चींटे-चींटियों, तितलियों को कभी तंग न करती, बल्कि उनके प्रति इसके हृदय में बड़ी दया और कौतूहल रहता।

रमिया ने, जब यह छोटी ही थी, एक मर्तबा अपने बाप से पूछा था : “दहा, ये चींटियाँ दौड़ी-दौड़ी कहाँ को जा रही हैं ?” उसे अब भी याद है कि उससे कहा गया था : “वे अपने-अपने घर जा रही हैं।” रमिया चींटियों को आटा देती और मिमटों उनके गुप्त व्यापार को देख बड़ी प्रसन्न होती। तितलियों को देखकर तो वह मारे खुशी के उछल पड़ती। अपने आंगन में लगे हुए मकई के भुट्टों पर बैठी हुई कई रंगों वाली तितलियों को मन लगाकर बड़ी देर तक देखती रहती। इसका जी तो कभी ऊबता ही न था।

जब रमिया दस वर्ष की हुई तो अपने बाप को खेती के काम में बड़ी चतुराई से सहायता देने लगी। रमिया का बाप तो इसे लेकर ही खेत जाता, और अपने साथ इसके लिए रोटी-शाक रख लेता और इसे भूख लगने पर पास वाले कुँए पर जा खिलाता। रमिया को अब

पैसे का कुछ प्रलोभन होने लगा। वह अपने दहा से कभी कभी कहती “दहा हमें पैसे दो।” उसका बाप उसे ऐसे अवसर पर ‘ना’ कभी न कहता : और दो-चार आने अवश्य देता। कहता : “ले, रमिया, पैसे ले। क्या लेगी बोल ? चनेवाली आए तो दो पैसे का चना-चबेना ले लेना, अच्छा ?” रमिया का जी चना खाने को बहुत करता, पर अपने पैसों में से वह एक भी पैसा खर्च करने को राजी न होती। वह एक एक पैसे को दाँतों से पकड़ती; चने तो माँ लेकर देगी ही। रमिया अपने पैसे बचा बचा कर रखती; और इस धन को बढ़ते देख बहुत खुश होती। रमिया ने कुछ ही दिनों में अपने पुराने काँस के लोटे भर पैसे, इकत्री, दुअत्री, चवत्री इकट्ठा कर लीं।

रमिया के गुप्त धन का रहस्य केवल उसकी माँ को मालूम था। वह चतुरा थी। वह भाँप गई थी कि रमिया के पास भी कुछ धन हो चला है। किन्तु वह कभी रमिया से उसके पैसों के सिलसिले में कुछ न कहती थी। माँ के मन में बड़ा प्रेम और कौतूहल रहता—देखें रमिया इन पैसों का क्या करती है। बाप तो बेचारा पैसे देकर चुप हो जाता, भूल भी जाता पृच्छना ‘कह, रमिया, बेटा, कितने के चने ली रही आज ?’ वह जानता था कि रमिया के पैसे, रमिया नहीं, रमिया की माँ बटोरें जा रही है; और वह यह भी जानता था कि वह धन एक दिन, उनके नहीं, रमिया के ही काम आएगा।

रमिया जब बारह वर्ष की हुई तो अब अपने दहा से केवल पैसे लेकर ही संतुष्ट न होती। कहती : “दहा, हमें बँधा रुपया दिया करो। हम हर हफ्ते नहीं माँगेंगे। पर माह भर में जब दो तो बँधा रुपया ही दो।” बाप हँसे कर कहता : “रमिया, रुपया बटोर कर क्या करेगी ? अपने लिए दूल्हा लाएगी ?” रमिया बेचारी लजा जाती, कहती : “दहा, बोलोना दोगे बँधा रुपया ? अब हम पैसे न लेंगे।” रमिया

का बाप अपनी लाड़ली बेटी की ओर देख बड़ा ही प्रसन्न होता; उसका हृदय वात्सल्य भाव से भर जाता। वह भीतर ही भीतर ईश्वर को धन्यवाद देता—उसकी आत्मा बोल पड़ती : “हे ईश्वर, तूने मुझे रमिया दी, सब कुछ दिया। तू बड़ा ही दयालु है। मैं तुझ से और कुछ नहीं माँगता। बस तू इसे ही सुखी रख। मैं गरीब हूँ। मैं भला उसे क्या दे सकता हूँ : तू ही सबको देता है। तू सबका राखनहार है।” और उसकी आँखें सजल हो जातीं। रमिया से कहता : “हाँ, हाँ, बेटा रमिया, बँधा रुपया दूँगा तुझे। तेरे लिए ही तो मैं जीता हूँ बेटा।” रमिया बहुत खुश हो जाती। रमिया की माँ बाप-बेटी के लेन-देन की बात सुनकर अपने मन में रमिया के लिए बहुत अनुराग और समता भर लाती और मन ही मन कहती : “रमिया मेरी बेटी नहीं, बेटा है—मैं तो इसके लिए दामाद अपने घर ही ला रखूँगी। इसे, अपनी छाती से दूर, दूसरे के घर न भेजूँगी।”

इस बात को फिर दो वर्ष हो गए। अब रमिया की उम्र चौदह वर्ष की थी। इसके अङ्ग-अङ्ग में जवानी की आभा प्रस्फुटित हो रही थी। रमिया सर्वथा अचेत थी। सचेत थी तो केवल अपने धन के प्रति : इसका धन इन चार वर्षों में किस अवधि को पहुँचा इसका अनुमान लगाना तो कठिन है, पर हाँ रमिया का बाप अपनी लड़की को हर माह एक रुपया ही न दे, कभी कभी बड़ी उदारता पूर्वक दो-दो चार-चार भी दे देता था। जब उसे बटवारा मिलता तो वह घर लौटते लौटते यही सोचता कि इस रकम में से वह रमिया को कितना दे दे।

एक दिन रमिया का बाप घर लौटा तो रमिया की माँ से कहने लगा : “मनेरा में कल्लू नाई अपनी गाय की बछिया बच रहा है। बछिया की मा बड़ी दूधवाली गाय थी, मैं जानता हूँ। मनेरा भर में

वैसी दुधारू गाय ही किसी ने नहीं देखी। मैं सुनता हूँ कि बछिया को कुछ रोग हो गया है। कल्लू तो अपने मुँह से रोग के बारे में कुछ नहीं कहता। तुम कहो तो लेलू। पर रुपए पूरे पच्चीस माँगता है। बच गई ईश्वर की दया से तो अलबत्तह दूध में कई पच्चीस निकल जाएँगे।”

रमिया की माँ को अपने पति की सलाह में पूरा विश्वास था। दोनों में मत-भेद प्रायः कभी न होता। रमिया की माँ ने कहा : “देखो, ठहराकर ले ही लो। न माने तो दे देना पच्चीस ही। ईश्वर ने चाहा तो बेचारी बछिया अपने नये थान पर आकर जी जाएगी। रमिया भी बहुत दिनों से गाय गाय कह रही है। उसका भी मन भर जाएगा।”

रमिया के बाप के मन में बात जम गई। वह बछिया लेकर अपनी रमिया को अवश्य देगा। और दूध होगा तो पीने क्या सब को न मिलेगा ?

फिर क्या था ? कँधे पर अपना अँगौछा डाल कर रमिया का बाप झट घर से निकल पड़ा। आँगन के फाटक के पास पहुँचकर बोला : “मैं सौदा करके ही आता हूँ।” अभी फाटक के बाहर होने न पाया था कि उसे रमिया की आवाज़ सुनाई पड़ी : “ददा, ददा तनिक ठहरो।” वह रुक गया, देखा कि रमिया दौड़ी दौड़ी आकर फाटक के पास खड़ी हो गई है।

ददा ने पूछा :

“क्यों, बेटा, क्या बात है ?”

“ददा, बछिया जरूर लइयो।”

“हाँ, हाँ, उसी के लिए तो मनेरा चला हूँ।”

“दहा, यह बछिया मेरी होगी। मेरे लिए ना ला रहे हो ?”

“हाँ, हाँ, तेरे लिए नहीं तो किसके लिए, पगली ?”

“तो तुमने, दहा, पैसे तो मुझसे लिए ही नहीं।”

रमिया का बाप हँस पड़ा, बोला :

“मैं तो अभी बात पक्की कर आता हूँ। पैसे कल दे देंगे। जल्दी क्या है ? कल्लू वैसा आदमी नहीं है।”

नहीं, नहीं, मैं पैसे लाती हूँ। लेते जाओ ! दाम दे दो और बछिया आज से ले जाओ। मैं तो बाट जोहती रहूँगी। खाऊँगी नहीं जब तक उसके पाँव न पखारूँगी, उसके माथे पर टीका न लगाऊँगी।”

रमिया दौड़ी-दौड़ी घर में गई और थोड़ी ही देर में पच्चीस रुपए लाकर अपने दहा को उसने दे दिए। रमिया का बाप उसकी व्यवहार-कुशलता को देख चकित हो गया। प्रेम से उसका हृदय भर आया। झट फाटक बन्द करके वह मनेरा की ओर चल पड़ा।

शाम न होने पाई थी कि रमिया की बछिया, मनेरा से पलोरा आ, अपने नये कोठे में बँध गई। मनेरा था कितनी दूर—एक कोस। जहाँ पहाड़ी के उस पार गए कि मनेरा पहुँचे। जब बछिया रमिया के घर पहुँची तो रमिया उसे देख कर बहुत उदास हो गई। यह बछिया, जिसके लिए उसने अपनी गाँठ से निकाल कर पच्चीस रुपए दे दिये थे उस धन में से जिसे उसने कई दिनों में एक-एक कर जमा किया था, बड़ी ही दुर्बल और शरीर में क्षीण थी। रोग इसे क्या हो गया था यह तो पता न लग सका, पर बछिया केवल हाड़-मांस थी। शक्ति तो उसमें अपनी पूँछ और कान हिलाकर मक्खियों को उड़ाने योग्य भी न थी। कल्लू की ही गाड़ी में डालकर उसे नए थान पर लाया गया था। रमिया उदास अवश्य हुई, पर हताश न हुई। थान पर उसने अपनी

बछिया को बाँध उसके माथे पर सिंदूर लगाया; और उसकी आरती के पश्चात् एक नारियल फोड़ा। रमिया ने अपनी बछिया का नाम गंगा रखा। उसे गंगा कहकर सब पुकारते। इस कुटुम्ब में अब, तीन नहीं, चार प्राणी थे—रमिया का बाप, रमिया की माँ, रमिया और रमिया की बछिया गंगा।

तितलियों का नाद कम होता गया ज्यों-ज्यों रमिया का स्नेह अपनी गंगा के प्रति बढ़ता गया। कुछ ही दिनों में रमिया ने अपनी बछिया को सबल और चिकनी बना लिया। गंगा फैल चली; और छः मास में उसको काया ही पलट गई। गाँव के लोग तो देखकर, दंग रह गए। कुछ तो कहते : “नहीं, यह वह बाँझ्या नहीं है जिसे रमिया के बाप ने कुछ माह पहिले गाड़ी में डाल मनेरा से लाया था।”

अठारह महिने बाद गंगा ने एक बछरा दिया। रमिया के आनन्द की सीमा न रही। वह तो गंगा को पाकर ऋद्धि-सिद्धि पा चुकी थी। अपनी माँ से बार-बार कहती : “माँ, गंगा क्यों मुझे इतनी प्यारी लगती है ? क्या किसी जनम में यह भी मेरी कोई सगी थी ?” रमिया की माँ अपनी बेटी के भावों को भलीभाँति जानती। वह कहती : “हाँ, हाँ, रमिया, यह तेरी माँ थी पिछले जनम में। तभी ना यह तुझे दूध पिलाती है। गंगा जैसी गाय को माँ नहीं तो क्या कहेगी, बेटी ?”

गंगा दूध खूब देती थी। रमिया के बाप ने एक दिन रमिया की माँ से कहा कि दूध का मक्खन बनाकर बेच दिया जाए तो रमिया को बहुत पैसे मिलेंगे। रमिया को पैसे की बड़ी लगन है। “कहो तो मैं करूँ इसका कुछ प्रबन्ध ?” रमिया की माँ कुछ कहने जा रही थी कि रमिया वहाँ पहुँच गई। उसने अपनी गाय का दूध बेचे जाने की बात सुन ली थी, बोली : “ना, दहा, ना। मैं गंगा का दूध ना बेचूँगी।

तुम लोग पीओ। इत्ती कढ़ी मिहनत सारे दिन खेत में करते हो, गंगा का दूध पीकर ही शरीर को सबल बनाओ। पैसे मैं क्या करूँगी ? ईश्वर की दया से अपने पास कम नहीं है। चाहिए भी कितना अपने को ? अपनी छोटी सी खेती, बैल-गाड़ी और गंगा—बस ये बनी रहें उसकी कृपा से तो आपको और क्या चाहिए ?”

रमिया की माँ बड़ी शान्त स्वभाव की स्त्री थी। बुद्धि भी इसकी एक साधारण गाँव के किसान की स्त्रियों में जिस मात्रा में पाई जाती है उससे कुछ अधिक ही थी। अपनी बेटी के स्नेह को देख उसका हृदय ममता से भर आता, और मन ही मन वह अपने को धन्य मानती कि उसके पेट में रमिया जैसी मोहमयी लड़की आई, जिस कारण उसके पुराने संकट के दिन बीत गए और अब सुख के दिन देखने मिले।

रमिया का बाप हार जाता, बोलता : “अच्छा, बाधा, अच्छा, पिला मुझे गंगा का कितना दूध पिलाती है। तू भी, रमिया, क्या हद करे है ! कहीं हम लोग सेरों दूध पी सकते हैं ? पर जब तू सुनती ही नहीं तो मैं क्या करूँ ?” रमिया ने कुछ न सुना। दूध घर में ही काम आने लगा।

गंगा की सेवा में रमिया दिन-रात रहती। उसको चूनी, भूसी, खली इत्यादि वह अपने हाथ से खिलाती, और कोठा भी स्वयं साफ सुथरा रखती। गंगा ने ऐसा घर पाया कि वह अपनी माँ का कोठा ही भूल गई।

एक दिन जब गंगा जंगल से चरकर शाम को घर आई तो रमिया ने देखा कि वह कुछ अनमनाई-सी है। उसने जुगाली करना बन्द कर दिया है। और शाम की चूनी भी उसने वगैरह सूँघे ही छोड़ दी है।

रमिया घबड़ाई हुई अपनी माँ के पास दौड़ी गई, और गंगा का हाल कह सुनाया। माँ उस समय चूल्हा सुलगाने की फ़िक्र में थी। लकड़ियाँ गीली होने के कारण अज़ार न पकड़ती थीं, धुआँ ज्यादा हो रहा था। आँखें लाल थीं। रमिया के मुँह से गंगा की बीमारी का हाल सुन कर वह वैसे ही कोठे की ओर झपटी गई। देखा तो सच गंगा का बुरा हाल था। वह अपना सिर नीचे झुकाए हुए खड़ी थी, और उसके कान तक न हिल रहे थे। उसकी पीठ पर से एक दो बार हाथ फिरा कर रमिया की माँ ने उससे पूछा : “गंगा, बेटी, तुझे क्या हो गया है ?” गंगा ने जवाब न दिया, पर अपनी गर्दन ज़रा मोड़ कर रमिया की माँ की ओर अपने बड़े-बड़े नेत्रों से इस प्रकार देखा कि मानों वह कह रहा हो : “मैं क्या जानूँ। एक बेला तो तुम्हींने मुझे बचाया था। अब भी तुम्हीं बचा लो। मैं तो, रमिया जैसी, तुम्हारी ही हूँ।” गंगा की आँखों में पानी छलक रहा था। टप, टप करके दोनों आँखों से आँसू टपकने लगे। यह करुण दृश्य देखकर रमिया और उसकी माँ भी रो पड़ीं। रमिया का बाप अभी खेत में ही था। खेत गाँव से दूर न था। रमिया दौड़ी-दौड़ी अपने बाप के पास खेत पहुँची। गंगा की बीमारी का हाल रमिया से सुनकर वह फ़ौरन घर लौटा। आकर देखता है कि गंगा बैठी है, और एक टक कोठे की दीवार की ओर शून्य दृष्टि से ताक रही है। जुगाली बन्द थी। रमिया का बाप गाय-बैल की बीमारियों का कुछ थोड़ा-सा ज्ञान रखता था। उसने झपट कर घर में से एक छुरी ला गंगा के बाएँ कान के छोटे से हिस्से को काटकर वहाँ से कुछ ख़राब खून निकाला। कुछ औषधि भी पीसकर गंगा को नले से पिलाई गई, पर कुछ फ़ायदा होता नज़र न आया। रमिया बेचारी बड़ी दुखी थी। कोठे में गंगा के पास बैठकर वह उसकी पीठ को

सहलाने लगी, और उससे थोड़ी-थोड़ी देर में ऐसी बातें करती कि मानों गंगा सब सुन-समझ रही हो, और वह उसे जवाब में अपनी पीर कह सुनाएगी। रमिया की आँखों में आँसू थे। उसका गला भर आया था। उसके हृदय में एक वेदना-सी थी। गंगा की ओर देखकर कहती : “गंगा, क्यों मुझे तू अपना दरद नहीं बताती ? क्या जंगल में कोई ज़हरीली घास-पात खा ली है ? बोल अभी इलाज हो जाएगा। तू अच्छी हो जाएगी। क्यों उदास होती है ?” गंगा सुनकर अपनी आँखों से पानी टपकाती और न हिलती न डोलती। थोड़ी देर बाद गंगा का सिर ज़मीन पर टिक गया और उसके चारों पैर फैल गए। सारा बदन ऐंठने लगा। ऐसा जान पड़ता था कि भीतर ही भीतर गंगा को बड़ी वेदना हो रही है। पर किसी को कोई उपाय न सूझता था। गूंगे प्राणी की वेदना कितनी मार्मिक होती है !

घर में चूल्हा सुलगने जा रहा था। ज्यों का त्यों ही रह गया। उस रात रमिया के घर किसीने भी अन्न नहीं खाया। रमिया और रमिया की माँ तो गंगा का कोठा छोड़ती ही न थीं। सारी रात यों ही गंगा को देखते-देखते निकल गईं। गाँव का कोई घर नहीं था जिसे गंगा का स्वादिष्ट दूध, दही मक्खन कभी न मिला हो। बहुत से लोग रमिया के बाप के साथ आंगन में सारी रात बैठे रहे। कुछ न कुछ उपाय करते रहे। पर कोई औषधि न लगी, और गंगा की दशा बिगड़ती ही चली गई। जब भोर मुर्गे ने बाँग दी और पास वाले महुआ के झाड़ू पर लकड़-फोड़, अपनी तेज़, चोंच को बार-बार शाख पर पटक कर शोर कर रहा था तब गंगा तड़फड़ा कर उठ बैठी, और उसने अपना सिर उठा कर रमिया की, जो पास में बैठी थी, गोद में रख दिया। गंगा रो रही थी। रमिया रो रही थी। रमिया की माँ रो

रही थी। गंगा बिदाई माँग रही थी। उसकी दीन मुद्रा देख यही कहा जा सकता था मानों वह कह रही हो : “आज मेरे चलने का समय आ गया। आज से मैं तुम्हें अपना दूध न दे सकूँगी। रमिया, तू भी मुझे अपने हाथों से चूनी न खिला सकेगी। पर तुम लोगों ने मेरी बहुत सेवा की है। ईश्वर तुम्हें सदा सुखी रखे।”

कैसा हृदय को हिला देनेवाला, करुण दृश्य था वह ! रमिया के आँसू एक दम थम गए। उसने अपनी गोद में गंगा का सर रखे-रखे कहा : “गंगा बहिन मति उदास हो। तू तो अब पल्लोरा के एक गरीब किसान के कोठे को छोड़ ईश्वर के कोठे में बँधने जा रही है। तू तो धन्य है।”

तमाम लोग गंगा और रमिया का स्नेह देखकर दंग रह गए। उनका दिल भर आया। क्या गंगा ने रमिया का शुद्ध, सच्चा प्रेम पाकर अपनी अन्तिम वेदना को प्रकट करने की चेष्टा की थी ? क्या गंगा की मूक भाषा रमिया की समझ में आ गई थी ? गौ में ईश्वर ने अनेक गुण दिए हैं। इस देश में वह पूजी जाती है, और हिन्दू संस्कृति में तो वह माता समान मानी गई है—अवश्य इस गूढ़ ‘दर्शन’ में कुछ तत्त्व है।

पौ फटते-फटते रमिया की गाय के प्राण निकल गये।

रमिया की माँ ने कहा : “बेटा, मति रो। तुझे तेरे दहा और दूसरी गंगा ला देंगे।”

रमिया ने अपने आँसू पोछते हुए कहा : “नहीं माँ, मैं अब गाय न पालूँगी। मेरी साध तो गंगा ने पूरी कर दी।”

आज गंगा के कोठे को खाली हुए दस साल हो गए । किन्तु रमिया के हृदय से गङ्गा की स्निग्ध स्मृति और उसके प्रति सुन्दर स्नेह न भुलाया जा सका ।

मिरज़ा साहब

मिरज़ा साहब—नाम तो दर असल था उनका मुहम्मद यासीनख़ाँ—
इलाहाबाद के कटरा मुहल्ले में रहते थे। उन्हें लोग बाग मिरज़ा साहब के नाम से ही पुकारते। बड़े ही भले आदमी थे। इल्म, शराफ़त और ज़िन्दा-दिली—इन तीन चीज़ों ने मिरज़ा साहब को हर दिल-अज़ीज़ बनाने में काफ़ी मदद पहुँचाई थी। क्या बूढ़े, क्या जवान, क्या शरीब, क्या अमीर—मिरज़ा साहब किसके दोस्त न थे।

सुनते हैं कि मिरज़ा साहब के मरहूम अब्बा जान, मिरज़ा हबीबुर्रहमान, ग़दर के दो साल बाद, यानी करीब १८५६ के, चमन से इलाहाबाद आकर बस गए थे। उस वक्त मिरज़ा साहब की उम्र सिर्फ़ चार साल की थी। और जब काज़िक़ हम कर रहे हैं मिरज़ा साहब की दाढ़ी का हर एक बाल, अपनी सियाही खो, सुफ़ेद बर्क़ हो गया था : याने उनका सिन उस वक्त सत्तर के करीब होगा। मिरज़ा साहब डील-डौल, शक्ल, और अपनी शीर्सी ज़बाँ से लोगों को आकर्षित करते : और उनमें यह एक ख़ूबी थी कि वे लोगों को, एक मर्तबा दोस्त बनाकर, दुश्मन कभी न बनाते थे। बड़े ही मातदिल आदमी थे, जो हमेशा लोगों को हर तरह हँसाते, खुश रखते थे।

मिरज़ा साहब की एक छोटी-सी मनिहारी की दूकान थी, जिसके साथ-साथ, या सहारे, इतर का भी रोज़गार चलता था। लोगों का ख़याल था कि इस दूकान पर माल बहुत वाजिब दाम पर ही बेचा जाता है : दूकान ख़ूब चलती; और मिरज़ा साहब को काफ़ी अच्छी

आमदनी होती। मगर दरअसल मिरज़ा साहब की आमदनी तो उनके उस हुनर से ही थी कि जिसका ज़िक्र हम आगे करेंगे।

मिरज़ा साहब के किसी ज़माने में दो लड़के थे। बड़ा लड़का, ज़रा आचारा तबीअत का होने की वजह, हमेशा छुटा-छुटा सा रहता, और, मौक़ा पा, वह बम्बई भाग निकला। वहाँ से, किसी जहाज़ पर कोयला ढालने की नौकरी में भरती हो, वह यूरोप पहुँचा। फिर, लड़ाई छिड़ जाने पर, वह फ़ौज में भरती हो, फ़्रांस चला गया। वहाँ गोली से बुरी तरह घायल हुआ और बेल्जियम के किसी अस्पताल में ही मर गया। दूसरा लड़का टोंक रियासत के पुलिस महक़मे में अब भी दारोगा है। मगर, किसी बात पर अपने अब्बाजान से नाराज़ होने की वजह, उसने पिछले पंद्रह साल में मिरज़ा साहब को अपनी शक्ल एक मर्तबा भी नहीं दिखाई।

मिरज़ा साहब को अपना घर बच्चों से आबाद रखने का शौक़ था। वे अक्सर कहते कि वग़ैर औलाद के ज़िन्दगी में कोई लुत्फ़ नहीं। चुनाँचे, आपने अपने किसी दूर के रिश्तेदार के लड़के को, जो बचपन में ही अपने वालदेन को खो बैठा था, अपने घर लाकर बड़ी मुहब्बत से पाल रखा था। यह लड़का मिरज़ा साहब को अपने वालिद जैसा मानता, और दूकान की देख-भाल निहायत ख़ूबी और ईमानदारी से करता। मिरज़ा साहब तो अपने दोस्तों में रज़्ज़ाक की तारीफ़ उठते-बैठते करते। जब कभी रज़्ज़ाक मिरज़ा साहब के मुँह से अपनी तारीफ़ सुन पाता तो हँस कर कहता : “आप भी, अब्बाजान, क्या मुझे शर्मिन्दा करते हैं। मैं किस लायक हूँ ?” मिरज़ा साहब थोड़ी देर के लिए हुक्के की निगाली मुँह से हटाकर कहते : “क्यों, क्यों ? मैं क्या तेरी झूठी तारीफ़ करता हूँ, बच्चे ? मगर ख़याल बुरा नहीं है। कभी इन तारीफ़ों से बहक न जाना। अपने आपको किसी लायक़ न समझ कर

ही इन्सान कुछ काबलियत हासिल कर सकता है। मैं खुश हूँ जो तुम इसी उसूल पर चल रहे हो।’

मिरज़ा साहब तबीअत से शौकीन थे। उन्हें तीन शौक थे। एक तो इतर उतारने का; दूसरा, वे राजा महाराजाओं के लिए आवे-हयात और ‘रामपुरी’ गोलियाँ बड़ी मशक्कत और खूबी के साथ बनाते थे (मिरज़ा साहब का दावा था कि इन चीज़ों के इस्तेमाल से ज़ईकी की नातवानी में भी फिर दोबारा बहार आ जाती है)। और तीसरा अजीब व गरीब शौक उन्हें अच्छी अच्छी, कमसिन बीवियों से निकाह करने का था।

पहली दो बीवियों में से एक तो तपेदिक से मर चुकी थी और दूसरी को तलाक़ दे दिया गया था। लेकिन—खुदा की शान है—मिरज़ा साहब का हरम—सरा अब भी बीवियों से आबाद था। अब भी उनकी तीन खूबसूरत, जवान बीवियाँ थीं, और चौथी का पैग़ाम अभी-अभी उनके पास पहुँचा था—इसमाइल हेड कॉन्सटेबल की लड़की ज़ीनत के निस्बत। इन मौजूदा तीन बीवियों में से पहली, मरियम, की उम्र अब भी पच्चीस साल से ज़्यादा न थी। रंग तो था हल्के आवनूस जैसा, मगर नाक—नज़्शे से निहायत अच्छी। दूसरी, हमीदन, की उम्र बाईस साल की थी। रंग निहायत साफ़, क़द लम्बा, बदन छरहरा, नर्गिस-मी बड़ी-बड़ी आँखें, दाँत कच्चे अनार के दानों जैसे, छोटे-छोटे, एक से एक सटे हुए। तीसरी, हसीना, जो साल गुज़िश्ता ही मिरज़ा साहब की बीवी बनकर पीलीभीत से उनके यहाँ इलाहाबाद आई थी, सूरत-सीरत में सबों से बढ़कर थी। उम्र उसकी उन्नीस साल के करीब थी। और अब जो बात-चीत चल रही थी—इसमाइल हेड कॉन्सटेबल की लड़की ज़ीनत के निस्बत—वह तो (बस न पूछिए) मिरज़ा साहब की सुक़ैद

दाढ़ी को एक चौदह बरस की दोशीज़ा के दामन से ही बाँधने जा रही थी ।

मिरज़ा साहब बालों में खिज़ाब न लगाते थे । उन्हें इस तरह के फ़रेबों से सज़्जत नफ़रत थी । सुक़ैद को सुक़ैद और काले को काला ही बताया करते थे, लेकिन सुक़ैदी में काले का क़रिश्मा, या यों कहिये कि खिज़ाँ में बहार का रंग लाने की कोशिशों को वह अपनी शराफ़त के बरख़िलाफ़ हरगिज़ न समझते थे । चुनाँचे जब बात चल ही पड़ी थी तो मिरज़ा साहब ने उसे निहायत ख़ूबी से तै कर ली । मिरज़ा साहब बीवियों के सौंद में इत्र से कमाई हुई दौलत को दिल खोल कर देते; और हम-उम्र बीवियों का ज़यादत दाम दे उनके बालदेन को खुश कर अपना मतलब हासिल करते—आख़िर इन्सान इतनी मिहनत से इतना पैसा क्यों कमाता है—साथ तो न ले जा सकेगा । यहीं तो अपना शौक़ पूरा करने के लिए । फिर क्यों दाम देने में पसोपेश ? इसके मानी यह हुए कि अभी रमज़ान शरीफ़ के कुछ ही दिन पहले मिरज़ा साहब ने इस चौथी बीबी से भी निकाह कर लिया ।

मिरज़ा साहब के यार-दोस्त फ़वतियाँ कसते : “कहिये, मिरज़ा साहब, इन कमसिनों की महताबी पलटन से किस जंग की तैयारियाँ हो रही हैं ?” मिरज़ा साहब मज़ाक-पसन्द आदमी तो थे ही; अपनी कमज़ोरी को बख़ूबी जानते थे—निहायत मौज़ूँ जवाब देते; और, अपने हुक्के की गड़गड़ाहट ज़रा तेज़ कर, अपनी हँसी आप, धुएँ के बादलों की शकल में, उड़ते । “भाई, देखो,” वे कहते, “जोरू-जोड़ा तो अपनी-अपनी क़िस्मत की बात है । हम तो लिखा लाये हैं कि हमारा पाला छः बीवियों से पड़ना है । बस अब यही आख़िरी बीबी है, जो इन्शाअल्लाह, मरते दम तक हमारा साथ देगी, या-ख़ुदा ऐसा न करे, जिसके मरते दम तक हम साथ देंगे ।”

दोस्त लोग खूब हँसते । “नहीं, नहीं, मिरज़ा साहब,” वे कहते, “अभी से क्या मरने-जीने की बात आप कर रहे हैं । आप, खुदा चाहेगा तो, पूरे सौ साल के होकर ही बहिश्त को जाएँगे ।” मिरज़ा साहब, अपने हुक्के की चिलम को ज़रा सुस्त पाकर, फ़ौरन पुकारते: “रज्ज़ाक़ मियाँ, ज़रा चिलम में ताज़ा अज़्ज़ार तो भरो । “अभी भरे देता हूँ,” कहकर रज्ज़ाक़ दूकान की बैठक पर से जल्द उठ खड़ा हो, चिलम लेकर मकान के भीतर जाता और कुछ देर बाद चिलम को आहिस्ता फूँकते हुए वापस आता । मिरज़ा साहब अब इतमीनान से कश लेते हुए कहते: “रज्ज़ाक़ मियाँ, बारह बजने को है; जाओ भीतर, खाना खाओ । बन्सी सम्हाल लेगा दूकान । वक्त पर खाने-पीने का एहतियात रक्खा करो वरना फिर बीमार पड़ जाओगे ।” रज्ज़ाक़ तो अपने अट्वाजान के इशारों पर नाचता था : “जी हाँ,” कहता हुआ अन्दर चला जाता ।

मिरज़ा साहब दूकान में, ज़रा एक तरफ़ को, जहाँ उनकी बैठक थी; बैठे रहते, और अपना हुक्का गुड़गुड़ाते; कभी अलिफ़ लैला पढ़ते, कभी गुलिस्तॉ-बोस्तॉ और कभी ज़ौक़ का दीवान, जिसका क़रीब-क़रीब हर सफ़ह मिरज़ा साहब की बूढ़ी अङ्गुलियों से रगड़ा जाकर, बँधी जिल्द से अपना तअल्लुक छोड़ बैठा था ।

मिरज़ा साहब की ज़िन्दगी यों ही बड़े मज़े में गुज़र रही थी, लोग-बाग़ को तो इस खुश किस्मत शरफ़ को देखकर रश्क पैदा होता । अक्सर लोग कहते : “मिरज़ा साहब भी खुदा से क्या दुआ माँग लाये हैं ! उनकी ज़िन्दगी तो एक बहार है कि जिसमें ख़िज़ाँ जैसी कोई चीज़ ही नहीं ।”

रज्ज़ाक़ की अभी मँसे भीज रही थीं । आवाज़ अभी-अभी भरी चली थी । चेहरे पर मुँहासे निकल आये थे । और आँखों में एक

अजीब, तेज़ रोशनी उसे किसी क़दर बेचैन बना चली थी। वह उस मंज़िल से गुज़र रहा था जब लड़का मासूमियत की हद को देखते-देखते पार कर, जवानी की देहलीज़ पर था खड़ा होता है। चुनाँचे रज्ज़ाक के अच्चाज़ान बहुत होशियार, अक्लमन्द और तजरबाकार होने के बावजूद, कुछ ग़फलत कर ही बैठे।

रज्ज़ाक को अपनी चार जवान बीवियों के बीच छोड़ते हुए भी उन्हें कभी किसी किस्म की फ़िक्र न हुई। रज्ज़ाक था ज़रूर बड़ा सीधा, नेक और गाय जैसा मासूम : क्योंकि मिरज़ा साहब ऐसे अच्छे लड़के को अपने हरम-सरा के भीतर-बाहर आते-जाते देखकर कभी शक-शुबहा करते ?

मिरज़ा साहब अपनी साठ साल की उम्र में काफ़ी तजरबा रखते थे। बड़े दूर की सोचते, और बड़े ही संजीदा ख़यालात से ज़िन्दगी में काम लेते।

अभी दो चार माह से मिरज़ा साहब की नज़र में एक नई बात आई : रज्ज़ाक मियाँ दूकान की बैठक से कुछ ऊब से गए थे। किसी न किसी बहाने, थोड़ी थोड़ी देर में, वह अन्दर जाता और बन्सी ही दूकान सम्हालता। कोई बात नहीं। आख़िर बच्चा ही तो है। बैठे बैठे उम्र-रसीदा दूकानदार भी ऊब जाता है। उठ कर भाग जाने को जी चाहता है। रज्ज़ाक ने ऐसा क्या गुनाह कर डाला ? वह तो अभी उन्नीस-बीस साल का ही था। हाँ, अलबत्ता हड्डी दोहरी होने की वजह, चौबीस-पच्चीस का ज़रूर नज़र आता था। उसका चौड़ा सीना और मज़बूत बाज़ू देखकर तो लोग समझते कि वह कसरत का शौकीन होगा। मगर उस बेचारे ने तो अपनी उम्र में कभी एक बैठक या दंड

नहीं निकाला। रंग गेहूँआ, क्रद ऊँचा, और बालों में किसी क्रदर पेंचः देखने में बड़ा ही बाँका जवान था।

ज़ीनत को मिरज़ा साहब के घर आये अभी दस दिन ब-मुश्किल हुए थे कि रज्ज़ाक अपनी छोटी 'अम्मीजान' में बेहिसाब दिलचस्पी लेने लगा। वह भी तो बात बात में कहती "रज्ज़ाक मियाँ, ज़रा मेरी ओढ़नी चारपाई पर से उठा तो लाओ।" "रज्ज़ाक मियाँ दूकान से मेरे लिए आसमानी रंग का आठ आँस ऊल लादोगे ? मैं तुम्हारे लिए एक स्वेटर बुन दूँगी।" रज्ज़ाक भी ज़ीनत के अतराक घूमता; पानी तो हमेशा ज़ीनत से माँग कर ही पीता और हज़ार बहाने वह दिनभर 'अम्मीजान, अम्मीजान' कहता रहता। न मालूम 'अम्मी' लफ्ज़ के तलफ़्फ़ुज़ में उसे मज़ा आता था, 'जान' लफ्ज़ के।

एक रोज़ रज्ज़ाक मियाँ ने अपनी पतंग तनाई। रज्ज़ाक को पतंग खेलने का बड़ा शौक था। मिरज़ा साहब का मकान एक अजीब ढंग से बना हुआ था—बग़ैर प्लैन का, सिर्फ़ ईंटों का जिसमें बाहर से तो चूने का पलस्तर लगाया ही न गया था; लेकिन भीतर से भी कई कमरों की दीवारों में पलस्तर नहीं था। काफ़ी कमरे थे और हर तीन कमरों के लिए जुदा-जुदा सहन। ज़ीनत के कमरों के बीच जो सहन था वह काफ़ी बड़ा था और यहीं से रज्ज़ाक अपनी पतंग उड़ाता था।

एक रोज़ जब कि रज्ज़ाक मियाँ अपनी पतंग को बहुत ढील देकर अपने हुनर का कमाल ज़ीनत को दिखा रहे थे तो एक अजीब मज़ाक उसे सूझा। पतंग में शरारतन अजीब हरकतें पैदा कर वह चिल्ला उठा : "अम्मी जान, अम्मी जान, ज़रा रील तो सम्हालिए, लपेटिये तागा जल्द, कहीं तनाव में पतंग टूट पड़े तो सब तागा निकल जायगा। पतंग तेज़ी से उतारने की कोशिश करता और सहन के अतराक तागे

का ढेर लगाता जाता। जब जीनत हाथ में चर्खी लेकर रज्जाक के पास तागा लपेटती खड़ी हुई तो रज्जाक ने अपने चेहरे पर ज़रा घबराहट की शिकनें पैदा कर कहा।

“अम्मी, अम्मी, इधर आइये, मेरी टोपी गिरी जाती है, इसे ज़रा थामिए,” और अपने सर की दुपल्ली टोपी उतार कर जीनत के सर पर बड़ी तिरछी अदा से उसने रख दी।

“रज्जाक मियाँ, मुझे टोपी पहिनाकर क्या खुद तुम अब मेरी ओढ़नी अपने सर पर रखना चाहते हो ?”

टोपी जीनत के सर पर ही रखी रही वह उसे क्यों उतारने चली; उतारे वह जिसने यह शराहत उसमे की है—वरना भुगतें इस शराहत की सज़ा। यह चुहलबाज़ी चल रही थी कि मिरज़ा साहब बिला ज़रूरत बिला सबब, बिला नोटिस जीनत के सहन में दाख़िल हुए। माजरा देखकर उनकी तबीयत फड़क गयी। रज्जाक का चेहरा धूप से तमतमाया हुआ था, आँखों में एक अजीबतमी लिये हुए सुखी थी। जीनत अपने हाथ में रील लिए हुए रज्जाक से चिपकी खड़ी थी। उसके सर पर तिरछी दुपल्ली टोपी अभी भी उसे कातिल की शक्ल में बनाये हुए थी। मिरज़ा का ज़ईक कलेजा इस नज़ारे को देखकर पानी पानी हो गया। क्या भला लग रहा था यह जोड़ा उनकी मुनसिकी ने राय दी : “जीनत पर मैं ज़्यादती कर रहा हूँ। उसका मेरा क्या जोड़ा ? वह रज्जाक के ही लायक है।” मिरज़ा साहब सम्हले, हँसकर बोले :

“अच्छा, पतंग खेली जा रही है। कहो जीनत इस सख़्त धूप में क्या सूझी है तुम्हें कि रज्जाक की टोपी उसके सर से छीन तुमने अपना सर तो ढँक लिया लेकिन उस ग़रीब का सर तो धूप में पका जाता होगा; अपनी ओढ़नी उसके सर पर डाल दो ना।”

ज़ोनत ने मुनासिब न समझा कि बात बनाई जाय। मुस्कुराकर बोली :

“अभी तो हम लोगों के खेलने के ही दिन हैं, मिरज़ा साहब।”

“अरे तो मैं कब मना करता हूँ। खेले जाओ—मेरी दुआ है। ज़िन्दगी एक खेल का ही तो नाम है।”

“बस आप तो अब फ़लसफ़ा कहने लगे।”

“अरे अम्मी ज़रा तेज़ी से लपेटिये ना,” रज़्ज़ाक़ ने निहायत लापरवाही और मातवरी ढङ्ग से कहा।

“तेज़ी से तो लपेटे जा रही हूँ, और कितनी तेज़ी से?” ज़ोनत विगड़ पड़ी। मिरज़ा साहब बड़ी हसरत भरी निगाहों से इन दोनों को फिर घूरते और मुँह ही मुँह यह कहते हुए चल पड़ते :

“बहुत तेज़ी से—रज़्ज़ाक़ तुम्हें थका डालेगा।”

मिरज़ा साहब ने अपने दोस्त, दारोगा अब्दुल हमीद, के लिए अभी अभी गुलाब की रूह खींची थी। यों तो इत्र हमेशा बनाया जाता था और नायाबी के साथ; मगर गुलाब की रूह खींचने में तो मिरज़ा अपना सानी न रखते थे। इस मरतबा जिस कमाल से उन्होंने यह रूह खींची थी वह तो कन्नौज के मशहूर अत्तार को भी शर्मिन्दा व लाजवाब कर देता। इस इत्र की खुशबू, बनते बनते, निकल कर मिरज़ा साहब की लम्बी सुक़ैद दाढ़ी में ऐसी जा चिपकी कि हफ़्तों टर्किश बाथ साबुन से रगड़ रगड़ कर धोने के बाद भी, न निकली। सारा घर, दूकान और आगे वाली तंग सड़क गुलाब की खुशबू से महक उठी : और कई दिनों तक भीनी भीनी खुशबू आस-पास के लोगों की तबीयत में शरारतन बहार के जज़्बातों को, बेमौसम पैदा करती रही।

लोग कहते हैं कि मिरज़ा साहब ने इस इत्र की पाँच पाँच मांशे की पाँच शीशियाँ सैलानी रियासत के युवराज को पच्चीस 'सौ' में बेची थीं। इर्द-गिर्द के रजवाड़ों में तो मिरज़ा का इत्र बहुत नाम कमा चुका था। इन रजवाड़ों से मिरज़ा साहब साल भर में छः सात हजार से कम का इत्र न बेचते होंगे।

इसी दरमियान युवराज की शादी थी : मिरज़ा साहब को भी दावत थी। चुनाँचे वे, अपने दोस्त अब्दुल हमीद के साथ, चन्द रोज़ के लिए घर छोड़ सैलानी चल दिये।

इधर रज्ज़ाक़ मियाँ की जवानी की रफ़्तार, जो बहुत आहिस्ता-आहिस्ता बढ़ी चली जा रही थी, अब्बाजान की ग़ैरहाज़री में यकायक तेज़ हो चली।

रज्ज़ाक़ और मरियम के दरमियान कुछ माह पहिले से ही, आशनाई हो चुकी थी। मिरज़ा साहब ने इन दोनों को एक मर्तबा पास पास बैठे कुछ गुफ़्तगू करते देखा भी था। बल्कि एक रोज़ मरियम से उन्होंने कहा था :

“रज्ज़ाक़ से इस तरह पास सट कर बैठे बातें करती रहती हो। यह मुझे पसन्द नहीं।”

“अजी, आप भी क्या कहते हैं ! ऐसी गन्दी बात आप के मुँह से न निकलनी चाहिए। वह तो बच्चे जैसा मासूम है।”

“है तो ज़रूर; लेकिन अगर बन्सी की माँ तुम दोनों को काना-फूँसी करते देख ले तो, न मालूम क्या समझ कर मुहल्ले भर में चर्चा फैला दे। ऐसी बातों के लिए क्यों ख़्वाह-म-ख़्वाह गुन्जाइश दी जाय ?”

मरियम तमक उठी।

“आप बड़े शकी मिज़ाज के आदमी हैं। तौबा, तौबा !” कह कर मरियम वहाँ से दूसरे कमरे में तेज़ी से चल पड़ी।

लेकिन आज मिरज़ा साहब के घर छोड़ने के दो ही रोज़ बाद मरियम और रज़्ज़ाक़ में फिर घुट-घुट के बातें होने लगीं :

“प्यारी मरियम, क्यों मेरे पाँछे पड़ी रहती हो ? मैं खुदा को मुँह न दिखा सकूँगा।”

“प्यारे रज़्ज़ाक़, मैं तो ज़हर खाकर मर जाऊँगी—अपनी जयानी की क़सम अगर तुमने मेरी न सुनी।”

“या अल्लाह, मैं क्या कहूँ ? मुझ पर रश्म खाइए। मैं आपसे हर तरह से मिन्नत करता हूँ।”

“नहीं, तुम्हें मेरे जिगर की तपिश को बुझाना ही होगा। तुम्हीं ने तो मुझे इस राह घसीटा है, और अब बगलें झोंकते हो।”

“मैं फिर...मैंने आपको नहीं घसीटा। मैं तो खुद घसीटा गया हूँ। आप क्यों मुझ पर ये झूठा इलजाम लगाती हैं ?”

“देखो, रज़्ज़ाक़ मियाँ; अगर तुमने मेरी बात न सुनी तो मैं मिरज़ा साहब से तुम्हारे और ज़ीनत के दरमियान जो ख़त-ख़तूत चल रहे हैं उसका भाँडा-फोड़ कर दूँगी।

रज़्ज़ाक़ दंग रह गया। मरियम को इसका पता कैसे लग गया। उसका सर चक्कर खाने लगा। वह सकपकाया; बोला :

“नहीं, नहीं, प्यारी मरियम, ऐसा न कहना। मैं तो तुम दोनों को खुश रखना चाहता हूँ। लेकिन अब्बाजान पर तरस खाता हूँ। वो मुझ पर बड़ा एतवार करते हैं।”

मरियम हँस पड़ी।

“तो मुझ पर क्या कम ऐतबार करते हैं वो ?” वह कहने लगी—
 “लेकिन आखिर इन मर्दुओं को क्या हो जाता है कि साठ-साठ साल की उम्र में जवान-जवान बीवियों को लाकर अपने घर को नुमाइश-गाह बना देते हैं। बनता-जनता तो कुछ नहीं, जवान भर चलती है। और तो सारा जिस्म टण्डा पड़ा रहता है। अपनी हसरत भरी बीवियों की कमर में हाथ डालें ये खूँसट लोग मासूम बच्चों जैसे रात भर एक करवट सोते रहते हैं, और दिन में नाहक उन्हें दिक्कत करते हैं। तुम्हें आखिर हम लोगों के बीच क्यों रखवा गया है ? कुछ समझते भी हो, मियाँ ? मिरजा साहब बड़ी दूर की सोचते हैं !”

रज्जाक के सर में तूफान-सा उठ रहा था। वह भी सोच रहा था। बात तो मरियम ठीक ही कह रही थी। अगर मिरजा साहब इन चार-चार बीवियों को रखकर भी उनकी चढ़ती जवानी के बलबलों को नहीं जान सकते, या उनकी तिशनगी को नहीं बुझा सकते तो क्यों फिज़ूल अपनी सुक़ैद दाढ़ी में इत्र मल-मल कर उन ग़रीबों की हसरतों को कुरेदते हैं, और अपनी ज़ईफ़ी के वज़न से उनके मासूम हौसलों को रौंदते हैं ?

मिरजा साहब जब, युवराज की शादी के बाद, घर वापिस आए तो उन्हें हमीदन और हमीना से पता चल गया कि, न सिर्फ़ मरियम ही से, बल्कि ज़ीनत से भी रज्जाक की आशनाई काफ़ी गहरी होगई है। मिरजा साहब ने सब कुछ सुना, मगर उनकी भवों पर बल न आने पाया; रज्जाक से कुछ न कहा। सिर्फ़ एक रोज़, निहायत हल्के इशारों के बतौर, छेड़ा था :

“क्यों, रज्जाक मियाँ, इन दस दिनों में तुम दुबले क्यों नज़र आते हो ? गाल भी कुछ पिचके-पिचके से हैं। तुम्हारी अम्मीजानों

ने, मैं देखवा हूँ, मेरी गैरहाज़िरी में तुम्हारी सेहत का खयाल न रक्खा ।”

रज्जाक़ सकपकाया, मिरज़ा साहब का इशारा कहीं उसी राज़ की तरफ़ तो नहीं है ! नहीं, वे तो बेचारे बड़ी ही नेक तबीअत के आदमी हैं, उसे कितना चाहते हैं कि उसकी सेहत का खयाल उन्हें हमेशा बना रहता है ।

ज़ीनत को इस घर आए अभी तीन माह पूरे न होने पाए थे कि उसने एक रोज़ रज्जाक़ को, मौक़ा पाकर, अलग लेजाकर धीरे से उसके कान में कहा : “रज्जाक़ मियाँ, अब क्या होगा ? मैं हामिला हूँ । बंसी की माँ ने मुझे देखकर बताया है ।”

रज्जाक़ आख़िर बहुत भोला नहीं था । वह बीसवीं सदी में ही पैदा हुआ था । मूँछों की रेख निकलने से पहिले आदम की औलाद को उस राज़ के मुतअल्लिक बहुत कुछ पता लग ही जाता है । रज्जाक़ मुस्कुराकर बोला :

“न घबरा, प्यारी ज़ीनत, मालकियत हर सूरत में मिरज़ा साहब की ही है ।”

“या अल्लाह, यह तो बड़ा बुरा हुआ !”

“क्यों, क्यों, इसमें घबराने की क्या बात है ?”

“कैसी बातें करते हो, रज्जाक़ मियाँ ? कहीं भाँड़ा फोड़ हुआ तो ?”

“भाँड़ा फोड़ ? वह कैसे ?”

“निगोड़ी हमीदन और हसीना तो कुछ उठा न रखेंगी मुझे मिट्टी में मिलाने में । लेकिन जब वह बच्चा तुम्हारी शक्ल लेकर आएगा तो फिर मैं दुनियाँ में मुँह दिखाने लायक़ न रहूँगी ।”

“सुनो भी ये वहशत की बातें ! मिरजा साहब के बच्चे पर क्या मेरा साया नहीं पड़ सकता ?”

“लेकिन मेरे जईक शौहर तो बेअसर, बेजरर हैं, उन्हें क्योंकर तस्कीन होगी ?”

रज्जाक को बात जँच जाती । जवाब न सूझता ।

“देखा जाएगा, अभी से क्यों परेशान हों ?” कहकर वह अपना पीछा छुड़ाता । और क्या करता बेचारा ?

इस वाक्या को अभी तीन माह न होने पाए थे कि मरियम के एक लड़का पैदा हुआ । बहुत तन्दुरुस्त और गोरा । शकल तो शुरू शुरू में कुछ समझ में न आई, मगर एक माह के बाद तो वह रज्जाक मियाँ का बजिन्स नक्श दिखाई देता । यहाँ तक कि रज्जाक के बाएँ हाथ में छह अंगुलियाँ जो थीं वह उस बच्चे में भी ज्यों की त्यों उतर आईं ।

मिरजा साहब इस बच्चे को साठ साल की उम्र में पाकर बहुत खुश हुए । मरियम से एक रोज़ कहने लगे :

“मैं कहता न था कि तुम्हें औलाद होगी । आखिर अल्लाहताला सबों की मुराद पूरी करता है ।”

मरियम खूब हँसी, बोली :

“वाकई आप बड़ी दूर का पता रखते हैं—साठ साल का तजरबा जो आप को है ।

मिरजा साहब अपने तजरबे की बात सुनकर न मालूम क्यों ज़रा बेचैन से हो उठते ।

फौरन उठकर, दामन झटकते हुए, वहाँ से खिसक पड़ते ।

मरियम की जूचकी के सात माह बाद ज़ीनत की गोद भी भर गई। उसे भी एक निहायत खूबसूरत, गोरा, गोल-मटौल बच्चा पैदा हुआ। एक अजीब बात थी कि इस मरद के भी बाएँ हाथ में छह अँगुलियाँ थीं !... ये निगोड़ी छह अँगुलियाँ तो रज्जाक मियाँ के पीछे हाथ धोकर पड़ गई—क्या गाढा ज़हर था उसकी रगों में ! नाम बच्चे का रखा गया अर्जुन ।

मिरजा साहब की सुकैद दाढ़ी में अब जाफ़रानी खिज़ाब चढ़ने लगा। ज़ीनत को बच्चे से प्यार करते देख अक्सर कहते :

“बड़ी खुदगर्ज़ हो तुम दोनों। यह संतर तो अपनी बहनों, हमीदन और हसीना, को भी सिखाया होता। उन ग़रीबों की क्यों मायूस रक्खा गया ?”

ज़ीनत बनती, मानों उसकी समझ में बात कुछ न आने पाई। बच्चे का मुँह तौलिया से साफ़ करते हुए वह कह उठती :

“आप भी क्या भद्दा मज़ाक करते हैं, अज्जू के अम्मा ! आप की रामपुरी गोलियाँ क्या कम कमाल की चीज़ है। आप चाहें तो...”

मिरजा साहब गोलियों का नाम सुन कर, शर्मिन्दा हो जाते। भट उठकर खड़े हो, यह बड़बड़ाते हुए वहाँ से खिसक पड़ते :

“वही हुआ जो होना था—और क्या ?”

“रिट्रीट”

‘टहाइटहॉर्स’ का बारहवाँ पेग खत्म करके हरबैससिंग बेताबी से उठ खड़ा हुआ; अपने दोस्त से बोला : “चलो यार, बेनी, आज रात तो कहीं अटारी की सैर करें। तबीअत फड़क रही है, दोस्त।” बेनी, जो अभी अपना चौथा पेग भी पूरी तौर से न पी पाया था, इतमीनान से बैठा ही रहा, और उसने हरबैस का हाथ पकड़कर उसे भी बैठने को मजबूर किया। वेटर उस मौक़े पर आ खड़ा हुआ और उसने चुपके से वह प्लेट, झुककर, आगे मेज़ पर रख दी जिस पर केश मेमो रखा था। हरबैस अज़रेज़ी शराब की एक पूरी बोतल अपने हलक़ के नीचे उतार कर अब केश मेमो की जाँच-परख करने काबिल न रहा था; लेकिन बेनी, चौथा पेग पीकर भी, काफ़ी होश में था। उसने फ़ौरन जेब से दस दस के चार नोट निकालकर डिश में रख दिए। बोला : “बॉय, फ़ौरन चेंज लाओ।” वेटर वहाँ से फ़ुर्ती के साथ ग़ायब होगया, और पाँच मिनट में चार रुपए बारह आने प्लेट में रखकर ले आया। हरबैससिंग ने झपट कर पैसे बटोरे; और उसमें से एक रुपया बॉय को देकर, वह बोला : “मियाँ क्या कड़वी शराब पिलाई तूने आज। पिलाई होती कोई बढ़िया चीज़ कि बस यहीं रात गुज़ार देते।” बेनी ने अज़रेज़ी में अपने दोस्त को आड़े हाथ लिया :

“डोन्ट बी सिली, हरबैस। डोन्ट टॉक रबिश टू ‘हिम।”

हरबैस ग़ूब भद्दी हँसी हँसा। लड़खड़ाती ज़बान से बोला :

“एम आय टॉकिंग रविश ? ऑल राइट, देन, कम ऑन, वी मेक ए मूव नाउ । एन्ड व्हेयर टू आर वी गोइंग, माय बॉय ?”

बेनी अब भी बैठा ही रहा । अपनी सिगरेट जलाकर कुछ सोचने लगा । हरबैस अब इकवारगी उठ खड़ा हुआ, और बेनी का हाथ पकड़ झोर से खींचते हुए, उसे भी उठ जाने को उसने मजबूर किया ।

रात के बारह बज चुके थे जब हरबैस और बेनी दोनों ‘ट्वाइ लाइट’ होटेल से निकलकर बाहर सड़क के हवाले हुए । रास्ते में चलते-चलते हरबैस ने कहा :

“यार, कहो भी—कहाँ चलने की सोच रहे हो ?

बेनी झुल्लाया :

“अबे चुप भी रह । कहाँ चलेगा ? होश भी है ? पूरी बोतल पेट में उड़ेल कर खासे उल्लू बने हो । क्या करोगे जाकर ? होश में इन्सान हो तो कहीं जाया भी जाय । पी-पी कर सब बदमज़ा कर चुके हो । अब चलो और, अपने डेरे पर पहुँच कर, चुप से सो रहो ।”

“नहीं, यार, कैसी बातें करते हो,” हरबैस गिटपिटाया । “अभी से क्या सोने की बात करते हो ? पैसे देकर पिये हैं—मुफ्त में नहीं । कहीं वसूल भी करें चलकर ।”

“वसूल ?” बेनी चलते-चलते कुछ थम-सा गया । “वसूल कैसे ? वहाँ तो जेब से और भी चांदी निकालनी होगी । कैसी बेहोशी में बातें करते हो, हरबैस ?”

“हाँ, हाँ, लेकिन लुफ्त भी रहेगा, यार; और लुफ्त हासिल होगा तो क्या शराब के पैसे वसूल न होंगे ? उल्टे मुक्की को बेहोश बना रहा है ।”

“भई, सच बात तो यों है,” बेनी बोला, “कि अब मेरी जेब में कुल बीस रुपए रह गए हैं। अपने दो हैं—और खासे सूट में। वहाँ इस मुफ़लिसी में जाकर क्यों नाहक अपनी पोल खोली जाय ?”

हरबँस तन गया।

“वाह, मियाँ,” वह बोला; “तेरे पास बीस ही हैं तो क्या मेरी जेब में कुछ नहीं ?” अपने कोट की भीतरवाली जेब में हाथ ठूँस कर—“इसमें सौ-सौ के दो नोट हैं। अबे, ये कब काम आयेंगे ? वरमा फ्रन्ट पर, जब मेरे दाएँ-बाएँ लोग गोली खाकर टपाटप गिरते और मरते थे, तब वहाँ से मैं बच निकला। पैसे तो खूब कमाये। पैसे तो सोनागाछी की रंडियाँ भी कमाती हैं। मगर ज़िन्दगी तो बार-बार नहीं मिलती। मज़े भी उठाने चाहिएँ, वरना पैसा क्या है—धूल, मिट्टी।”

बेनी भी लड़ाई से सही सलामत, ज़िन्दा लौटा था। आज ये दोनों दोस्त अचानक कलकत्ते में मिल गए थे, और हरबँस की सलाह से बेनी ने अपना सामान ज़ुआलोज़िकल गार्डन्स से उठाकर हरबँस के डेरे पर ही ला पटका था, हरबँस, हावड़ा ब्रिज के पास ही एक मथुरा के हलवाई के मकान में ठहरा हुआ था।

हरबँस रहने वाला था रावलपिंडी का; लेकिन बरसों से, अपने चचा के साथ इलाहाबाद में रहा; और वहाँ के विश्व-विद्यालय से उसने, लड़ाई छिड़ जाने के एक ही साल पहिले, बी० ए० की डिग्री ली थी। बेनी भी इलाहाबाद का ही रहने वाला था। इसके पिता वहाँ

लड़ाई के ज़माने में ज़ुआलोज़िकल गार्डन्स फ़ौजी लोगों के ठहरने की एक खास जगह बन गई थी।

कलेक्टर के ऑफिस में सुपरिन्टेन्डेन्ट थे, इसने भी इलाहाबाद में ही शिक्षा पाई थी। हरबैस के साथ-साथ ही कॉलेज में पढ़ता रहा; किन्तु परीक्षा में हरबैस पास हो गया था और बेनी फ़ेल। दोनों ने, कॉलेज के पचड़े को छोड़, नौकरी की तलाश की। बारह माह खाक छानी। न बी० ए० पास को नौकरी मिली और न बी० ए० फ़ेल को। जब लड़ाई छिड़ गई तो इन दोनों के भाग्य जागे। अज़रेज़ बहादुर की जान के लाले पड़ गए थे। हिटलर ने ईंगलैंड का हुलिया तंग कर रखा था। ईंगलैंड न सिर्फ़ सशस्त्र अमेरिका का मुँह ताकने लगा, बल्कि उसे हिन्दुस्तान के निहत्थों की भी शरण जाना पड़ा। तब हिन्दुस्तान में इन दोनों—बी० ए० पास और बी० ए० फ़ेल—की कद्र हो चली। दोनों फ़ौज में भरती किए जाने लगे। दोनों की ख़शामदें होने लगीं—इंगलैंड को इस विकट सङ्कट से अब हिन्दुस्तान के मारे-मारे घूमनेवाले, निठल्ले, भूखे, नौजवान ही (चाहे वे पड़े हों या मूर्ख) बचा सकते हैं। अतएव, ये दोनों, अपने देश के हज़ारों, लाखों भाईयों सहित, फ़ौज में भरती हो, अपने शत्रुओं के शत्रु के कलेजे पर गोली का वार करने, बड़ी बहादुरी से, अपना सीना निकाल, अकड़कर, रिक्रूटिंग ऑफिस के आगे खड़े हो गए।

लड़ाई तो, ईंगलैंड के कहो—हिन्दुस्तान के कहो—बहादुरों के बिरते पर जीत ली गई। हिटलर हार गया। इसके मानी हुए कि सत्य की विजय हुई, और झूठ का मुँह काला—ऐसा विजयी राष्ट्रों का दावा है, किन्तु संसार में सत्य को पराजित देख, झूठ को ही सत्य मान लेना ईश्वर की तथा उसके न्याय की अवहेलना करना है—उसके न्याय का कितना भीषण परिहास !

बेनी के चार पेग अब कुछ असर कर चलें थे। हरबैस पूरी बोतल अपने पेट में उँडेल कर भी कुछ ही मदहोशी की तरफ झुका था; लेकिन उसका साथी, बेनी, एक तिहाई में ही, चुल्लू में उल्लू बनकर, रंग लाने लगा। जो फ़्लसफ़ा अभी-अभी हरबैस की जवान से निकला था उसका जवाब उसे कलकत्ते की उस सकरी मड़क पर, बारह बजे रात के, ट्वाइ लाइट होटल में खा-पी कर निकलने के बाद, आसानी से न मिल सका। मगर चुप रहना तो मुश्किल था। कुछ बोलना ही पड़ा—बोला :

“तो चल कर ही रहोगे - चलो। बोलो, किस किस की चीज़ चाहिए ? देसी, परदेसी, बलायती, अमेरिकन ? कलकत्ता तो इस वक़्त गुलज़ार है।”

हरबैस की तर्बाअत में गुदगुदी सी लग रही थी। वह, एक बड़ी भद्दी हँसी हँसता हुआ, बोला :

“मैं सब माल आज़मा चुका हूँ, यार। अब भी क्या हविस बाक़ी है ? बस चलना है कहीं—एनी पोर्ट इन ए स्टॉर्म !”

बेनी को बात न ज़ची। नशे में भी वह दिल की पसन्दगी को बालाए ताक़ रख देने का कायल न हुआ।

“नहीं, यार, चलना ही है तो कहीं अच्छी ही जगह चलें,” वह बोला। “मैं ले चलता हूँ एक जगह। तू भी कहेगा कि वह क्या मज़े की चीज़ है।”

नुकड़ पर टैक्सी खड़ी थी। दोनों उसमें सवार हो गए। बेनी ने ड्राइवर से कहा :

“चलो क्लाइव स्ट्रीट।”

कार चल पड़ी। हरबैस, कोने से लिपटे हुए, व्हाइट हॉर्स के बारह पेग की खुमारी का मज़ा ले रहा था। बेनी पास ही बैठा बैठा अनायास उस रोज़ की याद कर बैठा जब कि पिछली मई में वह, बर्मा के एक फ्रंट पर, गोली से बाल बाल बच गया था; और उसका साथी, लेफ्टिनेन्ट रशीद, बुरी तरह घायल हो, दो सेकिंड में अपनी जान गँवा बैठा था। आज, वहाँ से बचकर वह कलकत्ते में, अपने दोस्त हरबैस के साथ, बारह बजे रात में क्लाइव स्ट्रीट के परिस्तान की सैर करने निकला है। ज़िन्दगी का यह पहलू उसे, टैक्सी के अन्दर बैठे बैठे, क्यों याद आया यह वह नहीं जानता था; लेकिन उसे यह बात उस समय खूब जँच रही थी कि जीवन में जहाँ लड़ाई का फ्रंट जैसी जगह है, गोलियाँ हैं—क्रयामत है, वहाँ कलकत्ते की क्लाइव स्ट्रीट भी तो है। जब इन्सान मरने से नहीं डरता तो वह जीने से क्यों डरे? आखिर, ज़िन्दगी में क्या क्रयामत से ज्यादा ख़तरनाक कोई चीज़ है ?

बेनी ने अपने को मज़बूत बना लिया : ‘न सिर्फ़ वजा है बात, बल्कि मुनासिब भी है’—इस बुनियाद को पट्टेचकर, उसने जल्द हरबैस को ललकारा :

“क्यों, मियाँ, अभी से पढ़ गए ढीले ? ज़रा तन कर बैठो—नींद तो नहीं आती ?”

“नींद ? अरे मैं तो पिछले माह, जब मैं बकुआ में था, बीस रोज़ एक रूपक नहीं सोया।”

“अरे, हरबैस,” बेनी बोला, “तेरे दो नोटों में से एक तो मेरे हवाले कर। मेरी जेब भी तनी रहे, वहाँ फिर कहाँ मौक़ा मिलेगा।”

हरबैस ने झट अपनी जेब में हाथ डाल दोनों नोटों को निकाला; उनमें से एक अपने दोस्त को देकर दूसरा फिर अपनी जेब में ठूँसता हुआ बोला :

“यार, बेनी, एक बोतल साथ लिए लाते तो क्या ही अच्छा होता ! नशा तो ज़रा खिसकता-सा लगता है; कहीं, पहुँचते-पहुँचते उतर ही गया तो ?

बेनी ने, जो अपना रुमाल हाथ में लिए उसे अपनी अङ्गुलियों से लपेटता, निकालता, रुमाल के एक सिरे को हरबैस के नुँह पर, गुलेल की तरह, छोड़ते हुए कहा :

“खूब मिलेगी वहाँ । बेटा, पीकर ढेर न हो जाना ।”

क्लाइव स्ट्रीट से कार गुज़र रही थी ।

“कहाँ—किस जगह साहब ?” सरदारजी ने अपनी गाड़ी ज़रा धीमी करते हुए, पूछा ।

“अरे, भई, तुम्हें क्या बताऊँ कहाँ । उस जगह का कोई नाम भी जो हो । वह तो मुझे हाँ ढूँढ़ कर निकालनी पड़ेगी । लेकिन, देखो, वाट्सन हाउस तो देखा है ना—वही पत्थर की बड़ी आलीशान बिल्डिंग जो मिंटो की स्टेच्यू के पास है ?”

हाँ, हाँ, साहब वाट्सन हाउस मैंने देखा है—कहिए, आप वहाँ जा रहे हैं ?”

“नहीं, उसी के पास एक स्ट्रीट है । मैं नाम भूल रहा हूँ उस स्ट्रीट का—बस यहीं गाड़ी रोक दो !”

“आपका मतलब बैरोज़ स्ट्रीट से ती नहीं है, साहब ? वहाँ तो आजकल कलकत्ते के सभी शोकीन पहुँचते हैं । वहाँ परियों का अखाड़ा है इन दिनों ।”

“भई, सरदारजी, तुम भी बड़े पते की कही। हम लोग उसी अखाड़े में जा रहे हैं। साढ़े बारह बजे रात नहीं तो क्लाइव स्ट्रीट में क्या करने हम आये ?”

टैक्सी बराबर अपनी जगह आकर खड़ी हुई।

“मीटर तो देखो, सरदार जी, कितना हुआ ?”

“साढ़े आठ रुपए, साहब।”

“अच्छा देखो—वापस भी ले चलोगे ?”

“कितनी देर लगेगी, साहब ?”

“करीब दो घंटे।”

“ले चलूंगा।”

“क्या लांगे ?”

“जो आप समझ कर देंगे।”

“पाँच रुपए फी घंटा ?”

“ले लूंगा, साहब। बेफिकर रहें। आप—जाइए; शौक पूरा कीजिए।”

दोनों दोस्त टैक्सी से बाहर निकलकर, बैरोज़ स्ट्रीट में चल पड़े। ब्लैक-आउट का ज़माना था। अन्धेरा छाया हुआ था। अन्दाज़ से चलकर, बेनी ने अपने दोस्त को सही ठिकाने पर ही ला खड़ा किया। बेनी कलकत्ते दो हफ़्ते पहिले पहुँच चुका था; और इस अरसे में उसने, काफ़ी धूम फिरकर, मन-बहलाव के श्रद्धों का पता लगा लिया था।

इस स्ट्रीट पर “रिट्रीट” नाम के घर में दोनों दाखिल हुए। बेनी बे फ़िफ़्ट स्टोरकेस से ऊपर चढ़ा। हरबैस भी उसके पीछे-

पीछे, ईमानदार कुत्ते जैसा, चला। तीसरे मंज़िले पर जाकर दरवाज़े की घंटी बजाई गई। दरवाज़ा करीब पाँच मिनट न खुला। घंटी दोबारा बजाई गई। फिर भी कोई जवाब नहीं। हरबैस ने मुस्करा कर बेनी के कान के पास अपना मुँह लगा, धीरे से कहा :

“क्यों, यार, यहाँ आदमी रहते हैं या भूत ? ससुरे कोई जवाब ही नहीं देते।”

बेनी ज़ोर से हँस पड़ा। बोला :

“अबे क्यों बेकरार हुआ जा रहा है। ज़रा दम तो पकड़।”

बेनी अबकी तीसरी बार घंटी बजाने जा रहा था कि सहसा दरवाज़ा खुला। एक गोरी नौकरानी ने दरवाज़े से बाहर सर निकालकर देखा। क्रौरन, बेनी को पहिचान कर, मुस्कराने लगी बोली : “वाक इन, सर। मिस्ट्रेस इज़ इन हर बेड-रूम, शी’ल मीट यू प्रेज़ेन्टली।”

दोनों दोस्त अन्दर दाखिल हुए। डाइज़-रूम निहायत ख़ुशी से सजाया गया था। सिवा परशियन कालीन, रेशम और मख्मल के परदे, क्रीमती फ़र्नीचर के दूसरी बात ही न थी। बहुत पावरफ़ुल इलेक्ट्रिक प्लव से जा-ब-जा कमरा जगमगा रहा था। इस कमरे की चमक-दमक देखकर हरबैससिंह दंग रह गया। आँखों से सांकेतिक भाषा में गोया अपने दोस्त की ओर देख कर कह रहा हो : “भाई, मान गए। लागू तो ही ज़रूर किसी अल्ट्रा-मॉडर्न जगह।”

बेनी भौंप गया। उससे न रहा गया। बोला :

“क्यों, बेटा, ऐसी जगह ही आने के लिए तेरी तबीअत मचल रही थी ना ? अब ले—निपट उससे।”

हरबैस को ख्वा-म-ख्वाह गुदगुदाया गया था। एक अजीब भाव-भंगिमा के साथ उसने कहा :

“क्यों, क्यों, कैसी बातें करता है, यार, तू ? आये हैं तो निपट ही लेंगे। इसमें कहने की क्या बात है ?”

अभी इन दोनों में नॉक-आउट हो ही रही थी कि उसी गोरी नॉकरानी ने सिगरेट का डिब्बा और मैच बॉक्स लाकर, दोनों के आगे पड़ी हुई एक छोटी सी गोल मेज पर रखते हुए, पूछा :

“व्हाट बुड यू लाइक टू हैव—कोल्ड ड्रिंक और हॉट ड्रिंक ?”

बेनी की ज़बान हिलने में पेशतर हरबैस ने मुस्कराकर जवाब दिया :

“डू पीपुल कम हियर टू ड्रिंक कोल्ड ड्रिंक्स ?” उसने ‘हियर’ शब्द का उच्चारण काफ़ी जोर के लहजे में किया था।

थोड़ी देर में व्हरमथ की बोतल, सोडा और ग्लाम के साथ, लाई गई और हरबैस ने फिर बग़ैर सोडे के शराब पानी शुरू की। बेनी से भी उसने पीने के लिए कहा। लेकिन बेनी ने क्रतई इन्कार कर दिया।

अभी पहला पेग हरबैस सिंग बड़े मज़े में पी रहे थे कि डाइज़-रूम का, कोने वाला, दरवाज़ा खुला, और एक, खालिस चनों पर पले हुए सूअर की तरह तन्दुरुस्त, अज़रेज़ वहाँ से निकलकर, इन दोनों दांस्तों के करीब मोफ़े पर आ बैठा। इसने भी ग्लाम में शराब उँडेल कर पीनी शुरू की। अभी दस मिनट भी न हुए थे कि दोबारा वही कोने वाला दरवाज़ा खुला। और वहाँ से एक निहायत खूबसूरत युरोपियन औरत निकल कर, इन तीनों के पास, एक रॉकिंग चेयर की तरफ़ झुकी। उसकी उम्र होगी करीब तीस; बड़ी-बड़ी आँखें, काले बाल,

पतले होंठ, बड़ी तनी छाती, जिसमें यौवन का उन्माद भरा था। निहायत शोख, लेकिन तहजीब-पसन्द !

दोनों बड़े अदब से खड़े होगए। बेनी, कुछ आगे को झुककर, हाथ मिलाते हुए, बोला :

“गुड ईव्हनिंग, मेम ।”

“गुड ईव्हनिंग, बेनीप्रसाद ।”

“मीट माइ फ्रेंड लेफ्टिनेंट हरबैससिंग : मिस रोज़ेलिन फ्रॉम वन ऑफ दी पेरिसियन सेलून्स । ए व्यूटिफुल आर्टिस्ट ।”

“सो प्लीज्ड टू मीट यू, लेफ्टिनेंट हरबैससिंग,” रोज़ेलीन ने एक अजीब अदा के साथ कहा ।

“दी प्लेज़र इज़ एनटायराली माइन,” हरबैससिंग ने बड़ी ललचाई हुई ज़बान से कहा ।

हरबैससिंग, मिस रोज़ेलिन को देखकर पानी-पानी होगया । वह बोला :

“यू आर फ्रॉम पेरेडाइज़िफ़िकल पेरिस, देन ?”

“यस,” रोज़ेलिन मुस्कुरा रही थी ।

“एन्ड हाउ लाँग हैव यू बीन आउट इन इंडिया ?”

“जस्ट अब्राउट सिक्स मंथ्स । आइ केम आउट इन जेनुअरी, दिस इज़ जून ।”

“यू आर ए स्वीट क्रीचर !”

“थैंक्स व्हेरी मच फ़ॉर दी काम्पलीमेंट । वॉट केन आइ डू टू अम्यूज़ यू ?”

बेनी ने ठिठाई की :

“माई फ्रेंड हियर डिज़ायर्स टू सी युअर बेड-रूम विथ यू ।”

रोज़ेलिन खिलखिला पड़ी। “बाय ऑल मीन्स। कम ऑन मिस्टर. . . . व्हाट इज़ हिज़ नेम यू मेड, बेनी प्रसाद ?”

“लेफ्टिनेंट हरबेसमिंग,” बेनी ने झट सुझाया।

हरबेस और मिस रोज़ेलीन दोनों बेड रूम में, कोने वाले दरवाज़े में, दाखिल हुए। बेनी बैठा रहा।

जो अज़रेज़ करीब बैठा था वह, एक इंग्लिश मँगज़ीन में दिलचस्पी लेने के बहाने, कनखियों से बेनी की ओर देख रहा था। बेनी भी उसकी ओर घूर रहा था. . . .

“यू ऑर बोल्ड, सर, इन कर्मिंग टू दिस हाउस।” अज़रेज़ बक गया।

बेनी ने बड़े इतमीनान से जवाब दिया :

“हार्डली मोर वोल्ड देन यू।”

इन्हीं अप्रासंगिक बातों में एक खासी झड़प होगई।

“यू इंडियन्स आर कावर्ड्स,” अज़रेज़ फिर बकने लगा।

बेनी समझ गया कि वह बदज़बान गोरा इंग्लिशमेन के सिवा और कोई नहीं हो सकता। फ़ौरन बोला :

“यू इंग्लिशमेन आर बोथ बुलीज़ एन्ड कावर्ड्स।”

“यू से दैट टू मी ?”

“टू युअर व्हेरी डैम फ़ेस, सर।”

“हाउ डेयर यू से वी आर कावर्ड्स ?” वी आर बीटिंग हिटलर।”

“यस, विथ दी कावर्डली एटम-बॉम्ब, एण्ड देटिज़ नाट यू बट युअर अँकल सैम।”

“कावर्डली एटम बॉम्ब ? हाऊ डू यू मीन, सर ?”

“यू नो व्हाट आई मीन। डोन्ट प्रिटेन्ड टू बी ए फ़ूल।”

“यू फॉल मी ए फूल, यू स्वाइन ऑफ़ ए ब्लैकी !”

बेनी अपने ऊपर क्राबू न रख सका। वह, उन्मत्त सॉड के समान कूदकर, उस अङ्गरेज़ के पास जा खड़ा हुआ, और उसके मुँह पर एक जोर का चाँटा रसीद कर बैठा।

अब क्या था ? वह अङ्गरेज़ भी उछल पड़ा और उन दोनों में खासा घुस्सम-घुस्सा शुरू हुआ। अभी बात बमुश्किल पाँच मिनट जारी रही होगी कि वह सुकैद चमड़ी वाला पाजी अपने ट्राउज़रर्स के जेब में से रिवाल्वर निकाल, बग़ैर सोचे-समझे बेनी पर चला ही तो बैठा। ग़नीमत हुई कि चार चूक गया। बेनी भी फ़ौजी था। वह भी रिवाल्वर बग़ैर साथ लिए बाहर न निकलता। उसने भी बिजली की तेज़ी से अपना पाँच फ़ायरवाला ऑटोमैटिक डरावना रिवाल्वर निकाल कर अपने दुश्मन पर बड़े इतमीनान से चलाया। गोली ठाक निशाने पर जा लगी। अङ्गरेज़ की कनपटी से गोली पार होगई और वह अपनी जगह ढेर होकर गिर पड़ा।

ज्योंही रिवाल्वर की आवाज़ हुई, मिस रोज़ेलीन ने बंद-रूम में सुना। दोनों अपने स्वर्ग में विचरण कर रहे थे। हरबैससिंग तो उस समय दुनिया से बहुत दूर थे। उनके कानों तक मृत्युलोक की आवाज़ नहीं पहुँच सकती थी; अतएव, वह तो, बे फ़िक्र, अपना बुझार उतारने में मशगूल था। लेकिन रोज़ेलिन, अपने मेहमान का ख़याल एकदम भूलकर, या अपनी पैरीसियन तहजीब को बालाएताक़ रख, इस तेज़ी से उठ बैठी कि ग़रीब हरबैस, एक हाथ दूर, पलंग पर तुरी तरह फ़िक गया। फ़िकते ही उसे कुछ होश आया। एँ ! बात क्या है ? मैं कहाँ हूँ ? क्या हो रहा था—कैसे फ़िक गया ? झट, बिस्तर से बाहर हो, उसने अपना होश-हवास सम्हाला; और पास वाली मेज़ पर

रखे हुए केन्हेन्डर के डिब्बे में से एक सिगरेट ले, सुलगाते हुए, वह अपना होश बटोरने लगा। सहसा उसे रोज़ेलिन की याद आई—अरे वह कहाँ गई? वह क्या मज़ेदार औरत है! फिर बेनी की शक्ल उसकी आँखों के आगे घूम गई। उसकी शक्ल देख उसे यह भी याद हो आया कि उसने रोज़ेलिन को ‘आर्टिस्ट’ कह कर इन्ट्रोड्यूस किया था। वाकई असल मानी में वह आर्टिस्ट ही थी। फ्रॉन्स की विलासिता की सराहना मन ही मन करने लगा। बेड पर बैठ कर, सिगरेट का क़श लेते हुए, उसका मन पैरिस की गलियों में भटकने लगा जहाँ रोज़ेलिन जैसी अप्सराएँ पुरुषों को अपने हाँठों का स्वाद दे, थोड़ी देर के लिए, स्वर्ग का अनुपम सुख दे सकती हैं

रोज़ेलिन बाहर डॉइंगरूम में निकल देखती क्या है कि कर्नल डेक्वॉकमेन क्रश पर पड़े हैं। उनकी कनपटी से खून जारी है, और लेफ़्टिनेंट बेनीप्रसाद, बड़े इतमानान से डॉइंगरूम में चहल-क़दमी कर रहे हैं, मानो किसी ख़याल में डूबे हों।

रोज़ेलिन ने बेनीप्रसाद की ओर देखकर निहायत वे-एतनाई से पूछा :

“इज़ ही डेड ? एण्ड हू हैज़ किलड हिम ?”

बेनीप्रसाद अकड़ कर खड़े हो गए। उन्हें झूठ बोलने की क़तई ज़रूरत न मालूम पड़ी। एक अजीब नज़रत भरे लहजे में बोले :

“हू बट आय केन किल देट फ़ूल। आय सपोज़ आय हैव उन ए ब्रेव्ड एक्ट। ही हू कॉल्स इंडियन्स स्वाइन एण्ड ब्लैकीज़ डिज़र्व्स हू डाय।”

रोज़ेलिन ने निहायत टैक के साथ कहा :

“शेल आय नाउ रिंग दी पुलिस एगड टेल देम व्हॉट हैज़ हैपन्ड ?”

बेनी ने कहा :

“व्हॉई नॉट ? आय एम नॉट अफ्रेड ।”

रोज़ेलिन के खाली कमरे में हरबंस का मन न लगा अभी सिगरेट आधी ही जल पाई थी, उमे एंशट्रे में पटक, वह बाहर डॉइंगरूम में निकल आया । माजरा देख उमे तेज़ी से होश आ चला ।

मिस रोज़ेलिन दूसरे कमरे में जा टेलिफोन पर बात कर रही थी । बेनी अब उसी सोफे पर जा बैठा जिस पर, ओड़ी देर पहले, मरहूम बैठा था । उसकी शकल एक अजीब स्थाह रंग की ढां गई थी जिसे देख कर डर लगता था ।

हरबंस उसके पास आकर, उसके काँधे पर अपना हाथ रख, बड़ी लापरवाही से बोला :

“इस साले को क्या हो गया ? क्यों पड़ा है यहाँ ? मालूम होता है ख़ूब पी ली है इस पाजी ने ।”

बेनी ने निहायत सूखे पन से जवाब दिया :

“छोड़ो भी उस सूअर को । वह तो पहुँच गया अपने ठिकान । अब कहो क्या बाक़ी रह गया है । निपट चुके ना ? कैसा रहा वह बेड-रूम ?”

हरबंस हँस पड़ा ।

“अबे वह ग़ज़ब की चीज़ है—शकर की डली है ! ख़ूब रही आज की रात । फिर और आएँगे यहाँ दोनों । परिस्तान बाक़ई परिस्तान ही है । बाहरी क्लाइव स्ट्रीट !”

रोज़ेलिन टपक पड़ी : दोनों को देखकर, मुस्कराते हुए बोली :

“दि पुलीस विल बी हियर इन टेन मिनिट्स । लेट अस फ़िनिश अवर बिज़िनेस क्रम्ट ।”

बेनी ने जेब से निकाल कर सौ रुपए का नोट रोज़ेलिन के हाथ में टिकाया । बोला :

“देट्स फ़ॉर गिर्विंग माय फ्रेंड लेफ़्टिनेंट हरबंस सिंग ए व्हेरी गुड टाइम इन युअर वंडरफ़ुल बेड ।”

तीनों खूब हँसे ।

पुलीस सारजेंट चार कान्मटेबल को लेकर रोज़ेलिन के फ़्लेट में दाख़िल हुआ ।

सारजेंट ने लाश को देख-भाल कर पूछा :

“हाउ हैज़ दिस हैपन्ड ?”

रोज़ेलिन रॉकिंग चेअर पर बैठी बैठी कश ले रही थी । उसके कपड़ों से सेंट की तेज खुशबू निकल कर तमाम ड्राइंगरूम में फैली हुई थी । बड़ी बेग़तनाई के साथ बोली :

“आय सपोज़ माय फ्रेंड, लेफ़्टिनेंट बेनीप्रसाद, हियर विल बी एबल टू टेल यू मच बेटर देन आय । ही इज़ एन आय-विटनेस टू दी अकरंस ।” कहकर, रोज़ेलिन खूब खिलखिलाकर हँस पड़ी ।

बेनी ने दूसरी सिगरेट सुलगाते हुए बड़ी लापरवाही से कहा :

“डोन्ट स्वाइनस डिज़र्व्ह टू डाय, सारजेंट ?”

“वेल, सम ऑफ़ देम डू, आय सपोज़ । एनी वे, हू डिड दिस ?”

“हू बट मी ? ही फायर्ड एट मी । आय फायर्ड एट हिम । ही फ्रेल्ड एन्ड आय सकसीडेड । देटस् ऑल !”

हरबंस की समझ में बात आ चुकी । बड़ी मोटी ज़बान से बोला :

“डोन्ट डिसटर्ब स्वीट मिस रोज़ेलिन हियर, सारजन्ट । लेटस् गो टू यूवर पुलीस स्टेशन हाउस । वी शेल् गो थ्रू इट देअर ।”

बात तो यही मुनासिब थी । टैक्सी मँगाई गई । तीन टैक्सियों में, नय लाश के, लदकर सब के सब क्लाइव्ह स्ट्रीट से पुलीस स्टेशन हाउस की ओर रवाना हुए । पौ फटने जा रही थी । प्रभात की लाली दूर आसमान पर कहीं कहीं नज़र आ रही थी ।

सरदार जी ने, देर होते देखकर, ऊपर को एक दो मरतवा जाकर थंदाज़ लगाने की कोशिश की कि साहब लोगों को देर क्यों हो रही है । दूसरी मरतवा जब वह बांहर दरवाज़े के पास जाकर खड़ा ही हुआ था कि वह, पिस्तौल की आवाज़ भीतर होते देख, समझ गया कि यहाँ खून खराबी का मौक़ा है । वहाँ से तेज़ी के साथ नीचे उतर, अपनी कार ले, वह चंपत हुआ ।

हरबंस ने बेनी से कहा :

“लेकिन घंटे दो घंटों की बात थी । कहाँ तक ठहरता वह बेचारा ? तुम तो रोज़ेलिन से ऐसे जा चिपके कि दिन ही निकल आया ।”

“अबे तो चौदह पेग अज़्ज़रेज़ी शराब वगैर सोडे के निगल कर उसे कहीं उतारनी ही थी, या यों ही बेमतलब पी थी ?”

पुलीस स्टेशन हाउस आ गया । सब के सब उतर पड़े । इन दोनों दोस्तों की लापरवाही व बेफ़िक्री देख कर सारजन्ट भी दंग रह गया ।

“घबराने की बात नहीं है, ’’ सारजन्ट ने दिलासा दिया ।

दोनों दोस्त खूब हँसे । हरबैस ने निहायत इतमीनान के साथ कहा :

“घबराने की बात ? अभी तो हिटलर हारा नहीं है । ‘देहली दूर अस्त ।’ जब तक वह जिंदा है हम लोगों को कौन फाँसी पर चढ़ा सकता है — एक बदज़बान, बदतहज़ीब, नामाकूल अङ्गरेज़ को जहन्नुम भिजवाने के लिए ।”

पण्डित सुदामा

बहुत जप-तप, पूजा-अर्चना, अनुष्ठान, आराधना, इत्यादि के बाद जब पण्डित शिवरतन के यहाँ उनके बुढ़ापे में एक बालक ने जन्म लिया तो वह भी सात माह का, लकड़ी जैसा दुबला-पतला, जिसके जीने की आशा उसके जन्म से ही माता-पिता ने छोड़ दी थी। किंतु, ईश्वर की लीला विचित्र है, पण्डित शिवरतन का बालक किसी तरह जी ही तो गया।

नाम संस्कार के अवसर पर पिता ने बहुत विषयानुकूल नाम ढूँढ़कर इस दुर्बल शरीरवाले शिशु का नाम सुदामा रखना चाहा। पण्डितानी ने अपने पति के इस प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन किया। बालक सुदामा जैसे ही तां दुबला-पतला रहकर संसार में अपना जीवन निभायेगा; अतएव, सुदामा नाम से ही यह बालक छोटे से बड़ा हुआ।

आज पण्डित सुदामा पैंतालीस वर्ष की आयु में, ईश्वर की असीम कृपा से, बड़ा विशाल शरीर धारण किये हैं। उनकी तोंद का घेरा, यदि दर्ज़ी की टेप से नापा जाय तो, पचपन इंच से कदापि कम न निकलेगा। खूब चर्बी भरी, मोटी गर्दन, भारी-भरकम भुजाएँ और भीम की गदा जैसे उनकी जाँघें—जब चलते तो ज़मीन भी थर्राती। ऐसे हाथी समान विशाल शरीरवाले का नाम सुदामा! लोगों को तो इसमें एक बड़ी दिल्लगी का सामान मिलता। वे पण्डित सुदामा को देखकर ही खूब हँसते।

मोटे मनुष्य बड़े खुश मिज़ाज होते हैं। पण्डित सुदामा बड़े ही भले आदमी थे। सदा हँस-मुख और सरल-चित्त, जीवन में लोगों को प्रसन्न रखना, हँसाना, उनसे सदा सीधा-सरल व्यवहार करना—यही इनका ध्येय रहा। पण्डित सुदामा जैसे स्वभाव के लोग भी भिन्न-भिन्न प्रकार से अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करते हैं। जीवन में हँसना-हँसाना यही तो जीवन का मूल-मंत्र है। किंतु इनमें से कुछ तो लोगों को बनाते और खुद हँसते और कुछ खुद बनते और दूसरों को हँसाते। हमारे पण्डित सुदामा जी इस दूसरी श्रेणी में थे जो सदा इस उसूल में विश्वास करते आये हैं कि जीवन का सुख तो इसी में है कि व्यक्ति स्वयं लोगों के मनबहलाव की सूरत हर तरह बन जाए।

पण्डित सुदामा के साथ एक और मज़ाक था। खुद तो थे खूब मोटे-ताज़े पर उनकी स्त्री थी बड़ी दुबली, कमज़ोर, मानों क्षय रोग ने उसके शरीर में बसेरा कर लिया हो। घर के काम में दक्ष, परंतु स्वभाव इतना कर्कश और क्लिष्ट कि पड़ोस के लोग आश्चर्य करते कि सुदामाजी किस तरह ऐसे घर में निभते होंगे; उन पर रोज़ क्या गुज़रती होगी।

पण्डित सुदामा न सिर्फ़ बाहर के लोगों को ही हँसाना जानते थे, बल्केवे अपनी स्त्री को भी अपनी सिक्रत से अकसर शय देते, और उसके हृदय में पंडितजी के लिए, प्रेम का न सहो, पर दया का संचार अवश्य हो जाता। “कैसा भोला, सरल-स्वभाव है इनका, और मैं इन्हें सदा सुनाती, लथेड़ती, दुःख पहुँचाती रहती हूँ। मुझ जैसा नीच कौन होगा !” उसका मन उसे कोसता।

सुदामाजी के घर कोई संतान नहीं थी। स्त्री के कर्कश स्वभाव तथा उसके दुखी रहने का यह एक विशेष कारण था। किंतु पण्डितजी उसे उदास देख कहते : “अरे इसमें दुखी होने का क्या कारण है ? अभी समय है। सब कुछ समय समय पर ही होता है। समय आने

पर तुम्हें भी संतान होगी—यदि ईश्वर ने चाहा तो ।’ विश्वास रखो उसमें । वह सर्व-शक्तिमान है । मैं भी तो अपनी माँ के पेट में उनके बुढ़ापे में ही आया था । धैर्य बड़ी वस्तु है । क्यों व्यर्थ दुखी होता हो ?”

इस उपदेश का प्रभाव पण्डितजी की स्त्री के उनावले मन पर थोड़ी देर के लिए अवश्य होता । वह चुप रह जाती । अपने आँचल से अपनी आँखें पोंछ लेती और फिर उठकर अपने काम-काज में जुट जाती । किन्तु स्वभाव से जो लाचार थी, क्या करती बेचारी; कुछ समय बाद, ज्यों ज्यों पण्डितजी का उपदेश अपनी तासीर में शिथिल पड़ता जाता त्यों-त्यों पण्डितजी का स्वाभाविक विष जोर पकड़ता जाता : और, फल स्वरूप, वह कुछ ही देर बाद फिर चख चख शुरू कर देती । पण्डितजी के पास हंसी दिल्लगी का भण्डार था । वे आत्माणी से हार न मानते थे, पर कभी कभी, अपने प्रयत्नों को निष्फल पा, उनका मन कुछ ऊब-सा जाता, और वह तुलसीदासजी की कोई समयानुकूल चौपाई बड़े सुन्दर ढङ्ग से गुनगुनाते, अँगोछा काँधे पर डाल, खड़ाऊँ पहिन बाहर की ओर निकल पड़ते । आँगन में पहुँचकर आवाज़ देते : “मैं तनिक पण्डित रामधन के घर जाता हूँ । कोई आये तो बिठाना । अभी आता हूँ ।”

पण्डित रामधन बगल में ही रहते थे । सुदामाजी के अनेक मित्रों में से ये उनके परम मित्र कहे जा सकते हैं । पण्डित रामधन भी, अपने मित्र की तरह, एक धनी साहूकार के पुरोहित थे । रामधन स्वभाव में पण्डितजी से बिल्कुल विपरीत—हँसते कम थे; और न किसी का हँसना ही उन्हें पसन्द था । जीवन को बहुत कठिन और कड़ी समस्या मानते, अतएव उनकी भवों पर सदा बल रहता । इतना होने पर भी पण्डित सुदामा और पण्डित रामधन में गाढ़ी मित्रता थी । इसका

मुख्य कारण यह था कि ये दोनों बड़े विद्वान् थे, दार्शनिक थे। कुछ ग्रंथों में कारण यह भी था कि इन दोनों ब्राह्मणों पर, बाल्यावस्था से ही, अच्छे संस्कारों का प्रभाव पड़ा था, और दोनों को उनके पिताओं ने बहुत अच्छी शिक्षा दी थी। रामधन हँसते कम थे; किन्तु जीवन में बड़ी सादगी, संयम, उपासना और प्रामाणिकता से चलते; आर अपना धरित्र ऊँचा उठाये रखते। पैसा दोनों के पास नहीं था, किन्तु पैसे का अभाव इन दोनों ने कभी अनुभव नहीं किया। दोनों मित्र खा-पी कर सुखी थे। इन्हें किसी बात की कमी नहीं थी क्योंकि दोनों स्वभाव से अल्प संतोषी थे। लोगों में जो श्रद्धा इन दोनों ने अपनी विद्या और गुणों के कारण कमाई थी, वही उनकी एक पूँजी थी।

महाभारत के सुदामा का कृष्ण जैसा परम प्रिय मित्र था। दोनों की मित्रता जैसी तो संसार के इतिहास में कहीं नहीं पाई जाती। हमारे पण्डित सुदामा का भी कोई कृष्ण था या नहीं? हाँ था। द्वापर के कृष्ण जैसा कलियुग में कृष्ण होना तो असम्भव-सी बात है; किन्तु युगानुकूल सेठ हरजीवन पण्डित सुदामा के कृष्ण जैसे ही—ज्ञानी तथा ऐश्वर्यशाली नहीं, किन्तु काफ़ी धनी मित्र थे। इन्हीं के घरे पुरोहित का काम करते करते आज सुदामाजी को तीस साल हो गये थे। पण्डित जी को किसी बात की कमी न थी। और जो कमी थी उसकी पूर्ति तो बेचारे सेठ हरजीवन के हाथ की बात न थी। वह कमी तो समय आने पर ही पूरी होगी। इसी विश्वास ने सुदामाजी के जीवन को संतोषमय तथा सफल बनाया है।

पण्डित सुदामा जब सड़क से निकलते तो वच्चे देखकर हँस पड़ते। उनके स्वभाव से भलीभाँति परिचित होने के कारण यह नटखट मण्डली कभी हृद से गुज़र जाती, पण्डितजी का पीछा करती और

उनके पेट पर चाँटा लगाकर खूब हँसती। पण्डितजी भी हँसते। कभी इन लोगों से क्रुद्ध न होते। बच्चों की हरकतों में बड़े ही खुश होते, और अपनी तोंद को स्वयं 'शैतान की क्रब' कहते। फिर क्या था ? बच्चों ने भी कहना शुरू किया; और जब भी वे लोग पण्डित सुदामा को बाहर मड़क पर चलते देख पाते जल्द एक खासी टोली इकट्ठा हो जाती, उनका पीछा करती और चिल्लाती, 'शैतान की क्रब, शैतान की क्रब' पण्डित सुदामा खूब हँसते और हँसाते। लोग-बाग यह देखकर पण्डितजी के सरल स्वभाव की बड़ी प्रशंसा करते। किन्तु जब बृद्धे-पयाने लोग लड़कों को पकड़ कर उनकी बेहूदा हरकतों के लिए उन्हें सजा देना चाहते तो पण्डितजी उन्हें रोकते : "अरे यह क्या मूर्खता करते हो ? ये बच्चे हैं। इन्हें अभी धिक्के नहीं : स्वयं भला बुरा जान जायेंगे जब समय आएगा। अभी तो इनके हंसी-विनोद के ही दिन हैं।" लोग चुप हो जाते : पण्डितजी का उपदेश उन्हें शरमिन्दा कर देता।

एक रोज़ पण्डित जी बाज़ार से घर वापस आ रहे थे। बच्चों की एक खासी टोली अब भी उनके साथ थी। कहीं से अचानक एक पत्थर आकर ज़ोर से उनकी तोंद पर पड़ा। पण्डित जी लहू से लथ-पथ होगए। पण्डित जी रुक तो गए, किन्तु अब भी, सदा की नाई, हँस रहे थे।

"कुछ नहीं, कुछ नहीं, चोट गहरी नहीं है। तुम लोग न घबड़ाओ," वे कह रहे थे। पर बालकों की सूरतें डर के कारण उतर गईं, और वे लोग एकदम चुप हो साध गए। एक-दूसरे की ओर देखने लगे। उनका आँखें पूछती, 'क्या तूने पत्थर मारा ?' और उनकी आँखें जवाब देती, 'नहीं तो, मैंने नहीं मारा।' पण्डित जी बात समझ

गए। वह पत्थर कहीं बाहर से फेंका गया था। साथ चलने वाली टोली के किसी बालक की यह करतूत नहीं थी। वे अब भी हँसते रहे। अपने आँगोछे से घाव को दबा कर चल रहे थे कि यकायक शोर हुआ : “पकड़ो बदमाश को, इसी ने मारा है पत्थर।” सब लोग उसी ओर देखने लगे जिस ओर से यह आवाज़ आई थी। देखते क्या हैं कि एक कॉन्स्टेबल एक बालक को पकड़े, भीड़ को चीरता हुआ, पण्डित जी के पास आ खड़ा हुआ और बोला : “पण्डित जी, इसी बदमाश ने आप को पत्थर मारा है। अब मैं इसे थाने ले जाता हूँ। आप भी चलें। रिपोर्ट लिखवा दें।” पण्डित जी की नज़र लड़के पर पड़ते ही वे बोल उठे : “अरे, यह तो पण्डित रामधन का लड़का बन्सी है !”

कॉन्स्टेबल ने पूछा : “तो क्या आप इस लड़के को जानते हैं ?” “अरे, हाँ। यह तो मेरे मित्र—मेरे पड़ोसी का लड़का है। बड़ा ही भला है।” कॉन्स्टेबल ने फिर पूछा : “क्या भले लड़के अपने बाप के दोस्त पर पत्थर चलाया करते हैं ?” पण्डित जी, बावजूद इसके कि उनके घाव से खून जारी था और उन्हें काफ़ी तकलीफ़ थी, हँस पड़े, बोले : “इसने जान-बूझ कर मुझे नहीं मारा, कॉन्स्टेबल साहब। धोखे में लग गया है।”

इस समय तक काफ़ी भीड़ लग गई थी। आदमी, लड़के इकट्ठा होकर पण्डित सुदामा की अजीब भलमनसाहत पर हैरत खा रहे थे। कोई कहता : “कैसा बेवकूफ़ है कि पत्थर की चोट खाकर भी उस बदमाश पर रहम करता है।” कोई कहता : “क्या ही भला आदमी है ! बच्चों पर कितना प्यार है इसका !”

कॉन्स्टेबल ने लड़के से पूछा : “क्यों—तुम पत्थर क्यों फेंक रहे थे ?” लड़का बहुत लज्जित हुआ, वह बोला : “उस झाड़ पर

मैंने किसी का पालतू सुग्गा देखा और पास वाले हलवाई के कहने पर मैंने उसे पत्थर के इशारे उड़ाना चाहा। मुझसे धोखा हो गया।”

कॉन्सटेबल को रहम आ गया। उसने पण्डित जी की तरफ देखकर पूछा :

“तो आप क्या चाहते हैं ? छोड़ दूँ इसे ?”

पण्डित जी ने हँसकर कहा :

“अवश्य, अवश्य, कॉन्सटेबल साहब, यह सच बड़ा सीधा लड़का है।”

जब पण्डित रामधन शाम को घर लौटे तो बन्सी की माँ से बन्सी की हरकत सुन बहुत दुखी हुए। ज़रा सुस्ताने भी न पाए थे कि पण्डित रामधन फिर उठ खड़े हुए और पण्डित सुदामा के घर जा उन्होंने उनसे, अपने लड़के की नादानी पर बड़ा दुःख प्रकट करते हुए, बड़े ही विनीत भाव से क्षमा माँगी।

पण्डित सुदामा अपने मित्र का हाथ बड़े प्रेम से पकड़ कर बोले :

“वाह, रामधन जी, इसमें क्षमा माँगने जैसी कौन सी बात है ? यदि मेरे ही बच्चे से यह भूल आप के प्रति हो जाती तो क्या आप मुझसे भी यही आशा करते कि मैं आप से क्षमा याचना करूँ ? कदापि नहीं। आप का बच्चा मेरा बच्चा है। छोट्टिये इन बातों को। घर जाइए और भोजनादि के पश्चात् आइये। तनिक बैठें और नियमानुसार अपनी गोष्ठी छिड़े।”

रामधन जी के नेत्रों में कृतज्ञता के आँसू भर आये। वे उठे और अपने मित्र की सहृदयता की सराहना करते हुए घर चले दिये।

पण्डित सुदामा जी की स्त्री ने अपने पति को खूब सुनाया। “ऐसे निकम्मे मित्रों से क्या लाभ ?” वह झुँझलाती। “उल्टे हानि

ही है। फिर भी, जब देखो नब, “पण्डित रामधन, पण्डित रामधन” करते रहते हो। वह लड़का, अरे वह तो अपने घर का एक दिन मत्थानास करके ही रहेगा। देख लेना मैंने क्या कहा है।”

सुदामा जी खूब जानते थे कि कब अपनी स्त्री से दलील करनी चाहिए, कब उसे उपदेश देना चाहिए, और कब विवेकपूर्वक काम निकालते हुए चुप्पी साध लेना ही उचित है। अतएव, इस अवसर पर उन्होंने बहुत नरमाई से ही काम लिया। स्त्री का चढ़ा हुआ पारा धीरे धीरे आप खिसक जाता।

पण्डित सुदामा का घाव कुछ दिनों में ही एक वैद्य की चिकित्सा से भर गया परन्तु कुछ ही रोज़ बाद फिर बहने लगा, और उन्हें कुछ चारीक बुझार भी रहने लगा। इलाज वैद्यों का ही जारी रहा। शहर में जल्द यह चर्चा फैल गई कि पण्डित जी बहुत बीमार हैं, और घाव धीरे पकड़ता जा रहा है।

एक दिन तो सुदामा जी की हालत इतनी खराब हो गई थी कि उनके कृष्ण, मेठ हरजीवन जी, स्वयं अपनी स्त्री को साथ ले, उन्हें देखने आए। हरजीवन जी की स्त्री पण्डितानी को मौ मौ के दो नोट देता हुई बोलीं : ‘देखो, बहन, इनकी खूब दवा दारू करो। ये जल्दी अच्छे हो जाएंगे। ये पैसे रखो; जब कभी किसी बात की आवश्यकता हो बिना संकोच घर से मँगवा भेजना। समझीं?’

अभी पण्डितजी बीमार ही थे कि लोगों में अफ़वाह फैल चली कि पण्डितजी के यहाँ बच्चा होने वाला है। कुछ तो बड़े खुश होते यह बात सुन; और कुछ इस अफ़वाह पर विश्वास ही न करते और हँस कर कहते : “अजी, बेचारे को यह सुख कहाँ?”

सावन के माह में ठीक रक्षा बन्धन के दिन शहर में यह ख़बर फैल गई कि पण्डित सुदामा को नीचे उतार दिया गया है, और उनकी

दशा चल-कूच की है। फिर क्या था ? हजारों लोगों की भीड़ उनके घर के आगे लग गई। लड़के लोग तो टोली की टोली बाँधकर उनके घर टिट्टियों के दल के समान उतर पड़े।

पण्डित जी की हालत बड़ी ही शोचनीय थी। उन्हें बहुत तकलीफ थी। ज़बान बन्द हो चुकी थी। सिर्फ इशारे से पानी माँगते। अभी सूर्य आकाश पर पूरी तरह चढ़ भी न पाया था कि घर के भीतर से रोने, मर धुनने की आवाज़ आई। पण्डितजी की आत्मा शरीर से सदा के लिए निकल चुकी थी। सारा जन समुदाय जो बाहर खड़ा था शोक में डूब गया।

थोड़ी ही देर में लोग इधर उधर तेज़ी से आने जाने लगे, सेंट हरजीवन भी अपने मुनीम जी को साथ ले मॉटर में दाँड़े आए। लोग देख रहे थे कि सेंट जी को आँखों से आँसू बह रहे थे। कुछ देर बाद जब वे घर वापस जाने लगे तो लोगों को भीड़ देखकर उनका दिल फिर दोबारा भर आया। 'क्या सुदामा जो इतने लोक-प्रिय थे ? क्या बालक, क्या जवान, क्या बूढ़े सभी इनको इतना मानते थे ? वाह, सुदामाजी, धन्य हो तुम ! तुम्हारा नाम इस शहर में लोग कभी नहीं भूलेंगे। ईश्वर तुम्हारी आत्मा को शान्ति दे !'

जब शाम को सुदामाजी की अर्ची निकली और स्मशान की ओर एक भारी जन-समुदाय 'राम नाम सत्य है' कहता हुआ चला तो दृश्य यथार्थ में देखने योग्य था—मानो कि किसी देश का राजा अपनी अन्तिम यात्रा पर बड़ी धूम-धाम से चला हो। भीड़ में अमरेंद्र बालक थे। आज उनके नन्हे नन्हे दिल दर्द से भरे थे। आँखें छलक रही थीं। बिल्कुल मौन साथे भीड़ में चल रहे थे और अपने मन ही मन सोचते,

‘पण्डित सुदामा, अब हम लोग किसे तंग करेंगे ? अब हमें, समय पड़ने पर, पुलिस से कौन छुड़ायेगा ?’

अर्थी बहुत सजी थी। सेठ हरजीवन के घर से भेजी हुई नई ज़रीन शाल, जो सुदामाजी के मृत शरीर को ढके हुए थी, सावन की धीमी धूप में भी जगमग जगमग कर रही थी। लोग कहते—दाता हो तो ऐसा हो ! और संवक हो तो ऐसा हो ! इसे कहते हैं निभाना; न सिर्फ़ जीवन में ही, पर मरते दम तक—और मरने के बाद भी इस घर की रक्षा सेठ हरजीवनजी ही तां करेंगे। लोगों का पूरा विश्वास था।

अर्थी मित्रों के कांधे कांधे बड़ी तेज़ी से घाट की ओर जा रही थी। पण्डित रामधन बार बार कंधा देते। राम नाम इनके मुँह से बड़ा मार्मिक और कर्ण सुनाई देता। सेठ हरजीवनजी ने भी, जो अपने सर्व कर्मचारियों सहित राह में एक जगह सम्मिलित हो गये थे, रामधन जी का पूरा साथ दिया। क्यों नहीं ? यदि सुदामाजी को अपने कृष्ण पर प्रेम था तो क्या कृष्ण का प्रेम सुदामा के प्रति कुछ कम था ?

आगे आगे रामधनजी का लड़का बन्सी हँडी लिए सिसकते हुए चल रहा था। यह बालक आज इस विशाल जनसमुदाय के बीच सबसे दुखी दिख रहा था। उसके मन में बहुत वेदना थी—ग्लानि थी—‘न मैं पत्थर चलाता, न सुदामाजी को चोट आती, और न वे बीमार ही होते,’ वह मन ही मन कहता। पर अब पछताने से क्या होता है ? जो कुछ होना था सो तो हो ही गया !

इस पुण्यात्मा का अन्तिम संस्कार बड़े समारोह के साथ हुआ। कई मन चन्दन की लकड़ी और कई पीपे घी से सुदामाजी का शव

जलाया गया। शहर के बूढ़े लोग तो कहते हैं कि ऐसी अन्वेषि, ऐसी सद्गति यहाँ किसी बड़े से बड़े सेठ साहूकार की भी नहीं हुई।

आज पण्डित सुदामा को संसार छोड़े तीन साल हो गए। इनके घर एक नन्हा-सा ढाई साल का बालक सेठ हरजीवन के आश्रय में पल रहा है। समय आने पर यही बालक अपने पिता की जगह लेगा। सेठ हरजीवन के घर का पुरोहित बनेगा। किन्तु क्या अपने पिता जैसा इसका भी भारी-भरकम शरीर होगा? क्या इसका भी होगी पचपन इंचवाली बड़ी तोंद, जो इस शहर के बालकों को हँसा सकेगी? क्या इसका भी सरल चित्त होगा, जो बालकों के उचित, अनुचित व्यवहार को असीम प्रेम और सहनशीलता से भेल सकेगा; और उन्हें अपने न्याय और विवेक के लुप्त में लेकर बाहर के अविवेक, अधर्म और आक्रमण से बचा सकेगा? यह समय ही दिखायेगा।

जब सेठ हरजीवन ने पण्डित रामधन को पुलावर कहा : “पण्डितजी, अब आपही अपने मित्र की जिम्मेदारी अपने ऊपर लीजिए और उनके, मेरे दोनों घरों को सम्हालिये।” तो पण्डित रामधन की आँख में पानी भर आया। कहने लगे : “मुझे क्या अधिकार है? यह तो पण्डित सुदामा के ही पुत्र की सम्पत्ति है। वही एक दिन अपने पिता का भार संभालेगा।”

सेठ हरजीवन ने बड़े अनुनय-विनय सहित फिर कहा : “यह मैं कब नहीं कहता? अधिकार तो निश्चय सुदामाजी के पुत्र का ही है; और वही जल्द अपनी जगह पर आएगा। किन्तु तब तक आपही मेरे पुरोहित बनकर रहेंगे, और उनके, मेरे घर-बार की देखभाल करेंगे। मैं आपको भी बारह सौ रुपये साल, जो उनको देता था, दूँगा।

पण्डित रामधन ने बड़ी नम्रता से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, केवल एक शर्त पर—वह यह कि “मैं अपने मित्र का ऋण आपसे

रुपए लेकर न चुका सकूँगा। मुझे क्षमा कीजिए। सेवा में यों ही बड़े प्रेम से कर दूँगा।”

सेठजी हार मान गए।

“अच्छा, पण्डितजी, जैसी आपकी इच्छा, ” उन्होंने कहा।

इस शहर में आज भी लोग-बाग पण्डित सुदामा का वात्सल्य तथा उनकी सहृदयता की कहानियाँ सुनाते हैं और पण्डित रामधनजी की सच्ची मित्रता के क्रिस्से।

एकांकी नाटक

अभी मैं सोकर उठा ही था—अपने बंगले के बरामदे में आराम
 कुर्मी पर लेटे लेटे मिगरेट काकश लगा रहा था कि पोस्टमैन ने आकर
 मुझे मेरी डाक दी ! पिछला दिन इतवार होने की वजह मेरी आज की
 डाक डबल थी । कुछ अखबार, कुछ मासिक पत्रिकाएँ, कुछ केटेलाॅग
 और कुछ चिट्ठियाँ । चिट्ठियों में एक सुक़ैद, मोटा लिफाफा था, जिस
 पर लिखे हुए पते के हुरक़ मे मैं नाड़ गया कि वह ख़त मेरे पुराने
 दोस्त अविनाश चन्द्र चक्रवर्ती का ही लिखा हुआ होना चाहिए । सब
 चिट्ठियों को बाज़ू वाली मेज़ पर पटक मैंने फ़ारन डेस लिफाफ़े को
 खोला । अन्दाज़ सही निकला । ख़त चक्रवर्ती का ही था । लिखा था :

“मेरे प्यारे कामता,

“अपना पुराना वाश्दा अब पूरा करो । मैंने शादी करल है—और
 एक निहायत हसीन बीवी से । दुर्गा पूजा की छुट्टियाँ तो तुम्हें मेरे
 साथ ही बितानी पड़ेंगी ।

“मैं यकीन दिलाता हूँ कि बड़ा लुन्फ़ रहेगा । धोखा न देना ।
 बाक़ी जब मिलेंगे ।

“तुम्हारा स्नेही

“— ए. सी. चक्रवर्ती ।”

अच्छा तो आख़िर चक्रवर्ती ने शादी कर ही ली ! क्यों न हो ?
 अब न करता बेचारा तो क्या बुढ़ापे में करता ? दम माल की प्रेक्टिस

मैं चक्रवर्ती साठ सत्तर हजार रुपए कमा चुका था, और अब पैंतीस साल की उम्र में इन्सान को, इतना धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य कमाने के बाद भी, बीबी लाने की फिक्र न हो, तो फिर बाद शादी का खयाल ही फिज़ूल है ।

मैं स्वयं अविवाहित हूँ । ईश्वर की कृपा से मैंने भी कुछ कम नहीं कमाया था । पर पैसा मेरे हाथ में टिकता ही न था । अपनी दस साल की बचालत में मैंने भी साठ हजार से कम न कमाया होगा । लेकिन आज मेरा बैंक बैलेन्स २०००) से ज्यादा न निकलेगा । २५०००) का तो बैंगला ही खरीदा था, १५०००) की लाइवरी और १००००) की मोटर । दस पन्द्रह हजार यों ही फिज़ूल खर्च में निकल गए थे ।

मैं चक्रवर्ती से उम्र में पाँच साल बड़ा था । अतएव, मैंने तो शादी का खयाल कतई छोड़ दिया था । छह साल पहिले शादी का इरादा कभी कभी ज़रूर होता । कोशिशें भी की गईं । एक मर्तबा तो बात तय पाने ही ज़ारही थी कि मुझे में आया कि लड़की को किसी क्रिस्म के क्रिस्म आते हैं । यह पता न लग सका कि क्रिस्म सिर्गी के थे या हिस्टीरिया की वजह । लड़की थी निहायत खूबसूरत । जब फिर दुबारा एक लड़की के निमंत्रित बात चल पड़ी तो यह पता लगा कि—हालाँकि लड़की का, अबकी बार, क्रिस्म का शिवायत नहीं है—शकल कुछ अजाब-सी है । मैं ऊब सा गया । क्या इरादा ने औरतों में दो ही क्रिस्म रखे हैं—या तो जिसे क्रिस्म आते हों या जो बदसूरत हों !

अविनाश की शादी का हाल पढ़कर मैं सोचने लगा कि उसकी बीबी भी इन्हीं दो क्रिस्मों में से एक होगी—वह बदशकल होगी या उसे हिस्टीरिया का मर्ज़ ज़रूर होगा ।

अविनाश मुझे हमेशा लिखता : “आओ, कुछ रोज़ मेरे साथ रहो । लुप्त रहेगा । ज़िन्दगी में क्या हमेशा पीसते ही रहोगें ?” दो-तीन साल में जब कभी हम लोगों की इत्फ़ाक़ से कहीं मुलाक़ात हो जाती, तो उसका यही तक्राज़ा रहता : आओ, कुछ रोज़ मेरे साथ रहो :” पिछली मतबा —क़रीब तीन साल हुए—जब हम दोनों कलकत्ते में अचानक मिले थे तो अविनाश ने अपना वही स्टैंडिंग इनविटेशन मेरे आगे रक्खा था । उसका आग्रह बड़ा ही सुंदर और सरल था । मेरे मुँह से कुछ मज़ाक़ में, कुछ सचाई में, यह निकल पड़ा : “आई इल कम आनली व्हेन यू गेट मैरिड—नॉट विफ़ोर !”

चक्रवर्ती स्वयं बड़े ठटोल थे । उन्हें विनाद पसन्द था । झट बोल उठे : “रियली ? एग्रीड !”

और आज, तीन साल बाद, यह पहला ख़त और उसमें वही आने का पुराना तक्राज़ा । बीबी भी अब उस क़रीब ने ले आई है । अब मैं क्योंकर बहाना कर सकता था ? झट, मिगरेट एशट्रे में पटक बाय को आवाज़ लगाई । और यह तार मिदनापुर भेजा गया :

“आ रहा हूँ, दो रोज़ के लिए नहीं, पन्द्रह दिन के लिए । ख़बरदार रहना । तारीख़ फिर ।

“कामता ।”

मैंने अपनी दो हफ़्तों को तमाम मिसलें अपने दोस्त, बैरिस्टर काशीप्रसाद पांडे, को दे दी । उनसे कहा : “भई, काशीप्रसाद, हम तो अब चल दिये मिदनापुर, ज़रा सुस्ताएँगे । बरसों पिघले रहे, यार, कोल्हू के बैल जैसे । कभी दम लेने न मिला । इन केमैस को सम्हालना ।” काशीप्रसाद मुझसे जूनियर था । मिज़ाज बड़ा ही 'ख़ुश

और यागना, उसने कहा : “डोन्ट वरी। घर की श्वात है। ज़रूर जाओ। तंफरी और कुछ आराम इन्मान के लिए निहायत ज़रूरी चीज़ है।”

वह दिन भी आगया जब मुझे तार से इन्तिला देनी थी कि मैं कब मिदनापुर पहुँच रहा हूँ। तार भेजा गया। और तीसरे दिन मैं भी नूफान एकस्प्रेस से मिदनापुर के लिए हावरा घाना हो गया। दो रोज़ के सफ़र के बाद जब मैं मिदनापुर स्टेशन के प्लेटफ़ॉर्म पर उतरा तो देखता क्या हूँ कि प्लेटफ़ॉर्म पर न चक्रवर्ती है और न उसका भेजा हुआ कोई शक़्स। मैं ज़रा चकराया। क्या बात है? क्या तार उसे मिला ही नहीं? खैर, सामान कुलियों से उतरवाकर मैं गेट की तरफ़ चला। अचानक पीछे से आवाज़ आई : “कामता, कामता !” घूम कर देखा तो जनाव चक्रवर्ती साहब बड़ी तेज़ी से आगे बढ़े चले आ रहे हैं; और उनके साथ-साथ एक कर्मगिन औरत, जो बहुत हसीन तो नहीं कही जा सकती पर हॉजिमकी मुन्ब-छाँव अवश्य आकर्षक थी, जो मनुष्य के हृदय में कौतूहल उत्पन्न करती थी, विशेषतः उसकी बड़ी-बड़ी सुरमई आँखें। हम लोग बड़े तपाक से मिले। चक्रवर्ती ने कैफ़ियत देनी शुरू की : “मुझे तार अभी एक घन्टा हुआ मिला।”

“देवम जशिंग, चक्रवर्ती,” मैंने कहा।

“मीट माई वाइफ़ हिमा; ही इज़ कामता—आफ़ हूम आइ हेव्ह बीन स्पीकिंग टू यू सो थोफ़ून।” अचिनाश हम दोनों का परिचय करा रहे थे।

प्लेटफ़ॉर्म पर परिचय बड़ा मुश्किलसिर लेकिन निहायत मज़ेदार रहा। हम दोनों को हैमन की बीमारी थी। इङ्ग्लैंड में, जब हम लोग साथ-साथ रहा करने थे, तो कभी-कभी घंटों हैमते। लैंड-लेडी बड़ी

नेक ओर ममताशील थी। वह हम लोगों की हँसी सुनकर कभी हमसे पूछ बैठती : “वाट्स दि मैटर ? लेट मी जॉइन यू इन ए हार्टी लाफ़ ओनली, आइ डोन्ट नो युअर लैंग्वेज।” हम लोग इस पर और हँस पड़ते। वह भी बेचारी मुस्कुराकर चल देती। आज मिदनापुर के स्टेशन पर, कई साल बाद, वही पुराना मज़ाक हम लोग फिर से दोहरा रहे थे। चक्रवर्ती की बीबी भी बड़ी हँसोड़ निकली। वह तो “ओ डियर मी !” कह कर यों हँसती कि लोग देखकर हैरत खाते। बात थी कुछ नहीं। मैंने अपने बटनों पर खयाल न रखा था—कहाँ कुछ बटन खुले रह गए थे; और, हालाँकि यह शलती अश्लीलता की परिभाषा के बाहर ही रही, चक्रवर्ती ने इसे देख, अपने विनोदी स्वभाव के कारण, तिल का ताड़ बना दिया। मुझे आँख मार कर संकेत करता, मानों कह रहा हो, “माइंड युअर बटन्स, यू फूल।” उसकी बीबी अपने शौहर की हरकतों को भाँप गई। खूब हँसी, पर ज़रा अपने शौहर की तरफ़ देखते हुए, न कि मेरी ओर।

सामान एक त्रिहक्टांगिया गाड़ी में रखा गया। हम तीनों चक्रवर्ती की कार में सवार हो उसके घर पहुँचे। बँगला स्टेशन से दस मिनट का डाइव्ह था।

दुर्गा पूजा की छुट्टियाँ शुरू हो गई थीं। चक्रवर्ती ने मेरी आव-भगत में कोई कसर उठा न रखी थी। उसके प्रेम-व्यवहार से मेरा दिल बार बार भर आता। किसी जन्म में यह मेरा सगा भाई रहा होगा। वह मुझे क्यों इतना चाहता था ? मैं कभी इस बात को न समझ सका; मैं उससे बार बार कहता : “क्यों फिज़ूल तकल्लुफ़ करते हो, यार ? यह तो मेरा घर है।” हिमा बोल पड़ती : “इसके मानी हुए कि तुम खुद अपने तई अपनी फ़िक्र कर लो। वाह, मिस्टर तिवारी ! क्या यही आप उम्मीद करेंगे हम लोगों से जब कभी हम आपके यहाँ

इलाहाबाद आएँ ?” मैं इन लोगों से क्या कहता ? इन लोगों ने अपने मेहमान को तो अपने सर पर बिठा लिया था ।

अभी तीन रोज़ ही हुए थे मुझे यहाँ आए । लेकिन इन तीन दिनों में हम तीनों आपस में बहुत करीब आ गए थे । हिमा की बेतकल्लुफी देख कर मैं वाकई बहुत खुश हुआ । बँगाल की लड़कियों में यह बात, कॉलेज की शिक्षा के बाद भी, बहुत आसानी से नहीं आने पाती । परन्तु इस लड़की में कई बातें मुझे निहायत पसन्द आईं । चक्रवर्ती से मैंने एक रोज़ बात बात में पूछा : “हाऊ इज़ इट देट हिमा इज़ सो प्री एन्ड लिबरल इन हर व्ह्यूज़ ? शी इज़ नॉट टिपीकली बँगाली ।” चक्रवर्ती ने मुस्कराकर कहा :

“ओ, देट्स बिकाज़ शी हेज़ बीन ब्रॉट-अप एन्ड एज्यूकेटेड इन एन इंग्लिश स्कूल इन वन ऑफ़ दि हिल-स्टेशनस् ऑफ़ दि कन्ट्री ।”

मैं हिमा को अब समझने की कोशिश करने लगा ।

प्रोग्राम पर प्रोग्राम बनने लगे । कभी घर पर ही दावत, कभी पिक्निक, कभी मछली का शिकार, कभी मोटर-ड्राइव, कभी सिनेमा, कभी टेनिस, कभी कुछ, कभी कुछ । हफ़्ते भर में सारे प्रोग्राम ख़त्म हो गये । अब क्या वे ही प्रोग्राम फिर से दोहराये जाएँ ?

हिमा ने सुझाया : “अपन लोग एक छोटा सा एकांकी नाटक खेलें ।” हम दोनों ने दाद दी । भई वाह, सूझ तो ख़ूब थी ! पर चक्रवर्ती साहब ने कहा :

“कौन सा एकांकी नाटक ?”

“कौन सा—हाँ ?” मैं भी कुछ मुस्कराते हुए बोल उठा ।

“एक लिखा जाए ख़ास अपने लिए,” हिमा ने परिहास को गम्भीरता में परिणत करते हुए, सुझाया ।

मैं चक्रवर्ती के मुँह की ओर देखने लगा। “लिखा जाय ? कौन लिखेगा ? क्या डॉक्टर, बैरिस्टर लोग भी नाटक लिख सकते हैं ?” मैंने ज़रा साक-सक लफ्ज़ों में पूछा :

“आप लिखेंगे ?”

“क्यों नहीं, अगर आप कहें तो,” हिमा ने त्रे-भ्रुकक अपनी हँसी को सौजन्य के आवरण में छिपाते हुए कहा।

मेरे बोलने से पहले चक्रवर्ती ने जवाब दिया :

“तुम्हीं लिखो हिमा; तुम तो एकांकी नाटक लिखने में बड़ी सिद्ध-हस्त हो।”

तो हिमा को यह प्रस्ताव कब अस्वीकार था ?

हिमा ने लिखना शुरू कर दिया। नाटक कुछ घंटों में लिखकर तैयार हो गया। इधर एक छोटा-सा स्टेज डाइज़-रूम में ही बनाया जाने लगा। इस एकांकी नाटक में कुल तीन पात्र थे : दो पुरुष, एक स्त्री। इस नाटक का विषय था ‘स्त्री-प्रेम’।

नाटक देखने चक्रवर्ती के चन्द दोस्त और उनकी बीवियाँ निमंत्रित की गई थीं। नाटक खूब मजेदार रहा, और हम तीनों ही ने अपना-अपना काम बड़ी नायाबी के साथ किया; चक्रवर्ती के मिश्रण बड़े ही प्रसन्न हुए; हिमा की बड़ी ही प्रशंसा हुई।

“डोन्ट प्रेज़ मी,” उसने कहा; “प्रेज़ अवर डिरेक्टर मिस्टर तिवारा। क्रेडिट बिलॉग्स टू हिम।”

चक्रवर्ती पूरे काठ के उल्लू थे। वो भी इसमें शरीक होगए। मुझे किसी क़दर शर्मिन्दा होना पड़ा। ये लोग कैसे नासमझ हैं; क्या ऐसी बातें स्वयं पति अपने मुँह से कहा करता है ?

हिमा का लिखा हुआ नाटक ख़त्म होगया। दूसरा नाटक लिखा जाने लगा। अबकी यह नाटक जीवन में होने जा रहा था। हिमा और

और मैं इसे लिख रहे थे। कलम और सियाही से नहीं—हिमा के खून से !

डॉक्टर अविनाशचन्द्र चक्रवर्ती अपने धन्धे में बड़े चतुर थे— उन्होंने नाम और पैसा दोनों कमाया था। परन्तु जीवन के कई पहलुओं से ये बिलकुल परिचित न थे। उन्हें कुर्मत न थी कि वे लोगों में घूमते फिरते या साहित्य पढ़ते। उनकी दुनिया तो बीमारों से सीमित थी। शारीरिक बीमारियाँ और उनका इलाज, यह उनका देखा भाला काम था; परन्तु मानसिक विकार और उनका अमीमांयिक रहस्य यह डॉक्टर चक्रवर्ती के खूने की बात न थी। ये चीज़ें उनकी बुद्धि के परे थीं।

डॉक्टर चक्रवर्ती में बहुत परिवर्तन नहीं हुआ था। इन दस वर्षों में उनमें अगर कोई नई बात पाई गई तो वह यह थी कि वे जीवन को बहुत नज़दीक से कभी न देखना चाहते थे। जब हम लोग इंग्लैंड में थे तब भी वह अक्सर कहा करते : “लाइफ़ इज़ ए प्लेज़ेन्ट बिज़िनेस इफ़ ओनली यू सीट थ्रू दि करेक्ट पर्सपेक्टिव्ह।” और अपनी ‘करेक्ट’ की परिभाषा में कहते कि “जितनी दूर से देख सको अच्छा ही है।”

हिमा को अपने शौहर के घर आए अभी पूरे दो माह न होने पाए थे। बीवी अपने शौहर के घर आकर अपनी सहेलियों को भूल गई या नहीं यह तो मैं नहीं जानता; लेकिन अविनाश, हिमा को ब्याह लाने पर भी, अपने मित्रों को न भूल सका। एक भद्दी-सी कहावत कभी कभी सुनने में आती है कि जो शादी कर लेता है वो अपने दोस्तों को भूल जाता है। यह कहावत बिलकुल निराधार निकली; बल्कि, इसके विपरीत, अविनाश में अपने पुराने मित्रों के लिए अनुराग और भी बढ़ गया। इसके कई कारण हो सकते हैं। परन्तु यह कारण विशेषतः सम्भव प्रतीत होता है कि हिमा अपने

प्रेम द्वारा अविनाश के सरल अनुरागशील स्वभाव से उसके मित्रों का हक न छीन सकी।

हिमा ने मेहमानदारी खूब अदा की। जब देखो मुझे घेरे रहती। अविनाश तो हिमा को दम नहीं लेने देता। बात बात में कहता : “हिमा, जरा कामता को यह यह तकिया तो दो, हिमा, कामता के लिए एक गिलास नीबू का शरबत तो बना लाओ, हिमा, रात में कामता के लिए क्या पकाया जा रहा है ?” हिमा कौन अचेत थी ? उसमें अतिथि-सेवा की भावना पूर्णरूप से थी तथा उसको निभाने की क्षमता भी। अविनाश के बारबार कहने से उसे परितृप्ति मिलती—एक अनिर्वचनीय आनन्द। कामता के सहवास में उसे एक मित्रात्म मिली—एक अन्तस्थल की वेदना—दोनों उसकी निधि थी। “मिस्टर तिवारी” से “कामता” बड़ी तेज़ रफ़्तार के साथ उसकी ज़बान पर चढ़ा : और शीघ्र हम दोनों परस्पर बहुत निकट खिंच गए। मैं हिमा को अपनी बहन मानकर किसी तरह का सङ्कोच न करता। वह भी मुझसे परहेज़ न करती। पर उसके हृदय की दुर्बोध्य भावनाओं को एक सीधा अविवाहित बैरिस्टर क्या जानता ?

मेरे पलंग पर मेरे पास सट कर बैठे बैठे अपने शौहर को, जो करीब ही आराम कुर्सी पर बैठा हुआ होता, हिमा ने एक रात्र कहा था :

“अविनाश, तुम पुरुष को रहस्य मानते हो या स्त्री को ?”

अविनाश गुम थे। कल जो ऑपरेशन होने जा रहा था उसमें उनका मन उलझा था; चौंक पड़ा :

“एँ !... दोनों को,” उसने दृढ़ी लापरवाही के साथ कहा।

“क्यों, कामता तुम ?”

“स्त्री को।”

“और पुरुष का ?” हिमा का सवाल अब दोनों में था ।

अविनाश ने हिमा से पूछा :

“तुम क्या मानती हो उसे ?”

“मैं भी अपनी राय दूँगी । पहले आप लोग तो कहें अपने अपने विचार,” हिमा ने जवाब दिया ।

मैं तो स्त्री को रहस्य मान चुका था । मैंने अपनी राय फिर दुबारा जरा जोर से दोहराई । अविनाश भी अपनी जगह से न हिला । उसने फिर कहा :

“दोनों ।”

हिमा जोर से हँस पड़ी ।

“स्त्री ही रहस्य है । पुरुष में क्या रखा है ?” हिमा बड़े इतमीनान के साथ बोल रही थी ।

“तो मैंने ठीक कहा था ना ?” मैंने पूछा ।

“तुमने ठीक कहा था,” हिमा ने दाद दी ।

अविनाश आँगड़ाई लेते हुए उठ खड़ा हुआ । मुस्कुराते हुए कहने लगा :

“हिमा अब फ़िलासफ़र हो रही है ।”

बात यहीं ख़त्म होगई ।

दूसरे दिन अविनाश घंटों अपने कमरे में मरजरी की किताबों के पन्ने उलटता रहा । ऑपरेशन रात को दस बजे होने वाला था । मिदनापुर में बीस कोय पर एक रईस रहते थे—किरणशंकर राय । उनकी बीवी को अचानक इन्टेस्टाइनल ऑब्सट्रक्शन होगया था । अविनाश चीर-फाड़ से बहुत तेज़ था । ज़िले भर में इनका नाम था । दूर-दूर से मरीज़ इनके ऑपरेशन टेबल पर आते थे । अविनाश बड़ा

ही मचेत रहता । ऑपरेशन करने से पहले वह अपनी किताबों को खूब उलट-पलट कर देखता और अपने पुराने इल्म को ताज़गी देता ।

हिमा और मैं शतरंज खेज़ने में मशगूल थे । हिमा ने मुझे मात पर मात दी । मैं मात खाकर भी खुश था । मुझे इन अबलाओं से मात खाने में जो मज़ा आता वह मेरी अपनी ख़ास सिक्रत थी । इंग्लैंड में जब मुझे लेन्डलेडा की लड़की एथिल बिज में मात देती तो मैं बड़ा खुश होता और उसके हौसले को बढ़ाता । आज भी हिमा ने मुझे निहायत खुश कर दिया । छठी बार शिकस्त देते हुए वह बोली :

“कामता, यू मस्ट बी हेटिंग मी फ़ॉर बीटिंग यू अगेन एन्ड अगेन ।”

मैं गुम था । मेरे मुँह से बेतुकी बात निकल पड़ी ।

“हिमा हाऊ इ यू लाइक युअर हसबैंड ?”

मैं चौंक पड़ा । यहाँ तो हार जीत की बात थी, और यह मैं क्या बे मर-पैर की बोल गया ।

हिमा हँस पड़ी । मेरी डींगों का दिवाला निकल रहा था । उसके विजयी होने का समय निकट था ।

“फ़्यू वाइज़ज़ लाइक देयर हसबैंड्स ।” मेरे कान में आवाज़ गूँज रही थी ।

“यू मीन फ़्यू हेट देयरर्स ?” मैंने कहा ।

“आय कान्ट हेल्प युअर मिसअन्डरस्टैंडिंग मी । मेन आर परव्हर्स ।”

“देन यू इ नॉट लाइक चक्रवर्ती ?”

“डिड आय से देट ?”

“यू लाइक बोथ ऑफ़ अम ?”

हिमा बिगड पड़ी ।

“क्या आदमी इतने कुन्द जहन होते हैं ?” उसने कहा । “मैं तो समझी थी कि आदमियों की बुद्धि कम से कम स्त्रियों की अपेक्षा अधिक तेज़ होती है । परन्तु मैं देख रही हूँ कि तुम लोग किसी दायरे के परे निरे बुद्धू होते हो ।”

शाम की चाय के बाद आज टेनिस में हिमा ने मुझे एक सेट से मात दी । वह अन्डर हैंड सर्विस करती थी, और सिंगल कोर्ट में खेलना उसे पसन्द था । मैंने कहा :

“भई, दिस इज़ नॉट फ़ेयर । लेट अम प्ले ऑन ईक्वच टर्मस् । नो हैंडिकेप्स फ़ॉर मी अगेन्स्ट फ़ेयर भेक्स ।”

वह राज़ी होगई ।

दो सेट से मैंने उसे मात दी । वह इस पिटास से खुश थी । लेकिन मैं यह दो सेट की मात देकर भी खुश न हो सका !

रात को जब मैं अपने कमरे में जाकर पलंग पर लेट गया तो मुझे न मालूम क्यों ऐसा जान पड़ा कि आज कुछ एक अजीब वाक़या होने जा रहा है । ब मुश्किल दस बजा होगा । मैं एक अज़रेज़ी नॉव्हेल के पन्ने उलट रहा था कि दरवाज़े पर एक हल्की आवाज़ आई । मैंने लेंटे-लेंटे पूछा : “कौन ?” कोई जवाब नहीं आया । मैंने सोचा आवाज़ और कहीं हुई होगी, दरवाज़े पर नहीं । फिर दुबारा वही आवाज़ उसी दरवाज़े पर आई । मैंने फिर पूछा : “कौन ?” कोई जवाब न पाकर, मैं उठ बैठा । दरवाज़ा खोलने पर देखता हूँ कि हिमा हाथ में कम्मल लिए खड़ी है । उसके होठों पर एक हल्की मुस्कान खेल रही थी । मैंने कहा : “क्यों, इस तरह चुप क्यों हो ?” हिमा ने कोई जवाब न दिया । उसकी आँखें कह रही थीं : “क्या रात भर ठण्ड में बग़ैर कम्मल के ही सोओगे ?” कितना ख़याल था उसे मेरा ! और

मैं एक ला-परवाह, भट्टा बैरिस्टर जिसे सिवा अपने कानून के और किस बात का इल्म, किस बात की फ़िक्र ? मेरा दिल हिमा का प्यार पाकर नाच उठा—एक भाई के लिए बहन का अमूल्य स्नेह। हिमा ने कमरे में प्रवेश करके कमल को पलंग पर पयताने रख दिया, और वह मेरे पास आकर बड़े स्निग्ध स्वर में बोली :

“इट्स ए लव्वली मूनलिट नाइट, कामता, इज़इन्ट इट ?”

“लव्वली,” मैंने कहा। मुझे नहीं मालूम कि मेरे हृदय के किस अन्तरतम से यह अनर्गल बात निकल पड़ी।

“टू लव्वली टू वेस्ट इट इन एन ऑपरेश थियेटर—डोन्ट यू थिंक सो ?”

मैं चौंक पड़ा। हिमा साफ़ साफ़ कह रही थी। क्या हिमा अपने नारी हृदय का, जो मनुष्य के लिए दुर्ज्ञेय है, एक पहलू दिखा रही थी ?

चक्रवर्ती के प्रति विश्वासघात होता यदि मैं हिमा का समर्थन करता। मैंने कुछ तीखी आवाज़ में कहा :

“मनुष्य को अपना कर्तव्य भी जो करना है।”

“और स्त्री का क्या कोई कर्तव्य नहीं ?”

“लेकिन तुम तो अपने पति की निंदा कर रही हो।”

“तो क्या तुम उन्हें मुझ से अच्छा जानते हो ?”

“मैं समझता हूँ।”

“तुम समझते हो। पर मैं जानती हूँ। वे बहुत प्रोज़ेक, बहुत सेंसिबल, बहुत ‘मेडिकल’ हैं—एक अच्छी सेंटिमेंटल वाइफ़ के लिए।”

मैं आगे कुछ न सुनना चाहता था। यह तो अब साफ़ था कि चक्रवर्ती की बीबी अपने शांति को नहीं चाहती थी। लेकिन बारह राज के सम्पर्क में ही उमने यह सब कुछ मुझ से कैसे कह दिया—

और क्यों ? मैंने इन स्त्रियों को दो भिन्न विभागों में विभाजित कर रखा था—बदशकल और हिस्टेरिकल । क्या इनका और एक तीसरा विभाग भी है—बेवफा, बेहया, बेरहम, जो अपने फर्ज़ और ईमान से, अपनी अङ्गरेज़ी तालीम की वजह, बहुत दूर तक गुमराह हो गई हैं ? यह विभाग तो सबसे ज्यादा खतरनाक है जो जमात का बुनियाद ही को हिला सकती है । मेरी भौंहों पर बल पड़ गए ।

“मुझे क्यों ये सब सुना रही हो ?” मैंने कहा ।

“क्यों नहीं ?”

“आखिर क्यों ?”

“क्यों कि तुम उनके जैसे नहीं हो । तुम भावुक हो । तुम्हारे हृदय में अनुराग है, भमता है, कवित्व है ।”

“मुझ में सब कुछ है, मान लिया; लेकिन मैं कुछ सुनना नहीं चाहता ।”

हिमा की आँखों में पानी भर आया । जल्द बड़ी-बड़ी बूँदें गालों पर से नीचे टप टप गिरने लगीं ।

“तुम इतने निर्मोही बन बैठे ?” उसने अपने विशाल नेत्रों से धूरते हुए कहा; और सिसक सिसक कर रो पड़ी; फिर ज़रा सम्हल कर बोली :

“मिस्टर तिवारी, बचन दो कि तुम इसका जिक्र उनसे नहीं करोगे ।”

मैंने अपना वचन दे पीछा छुड़ाया । किस आफ़त में मेरी जान थी ! रात बमुश्किल गुज़री । दूसरे रोज़ सुबह मैंने अविनाश से कहा : “अविनाश मैं ज़रा पुरानिया एक दोस्त से न मिल आऊँ । गाड़ी कब जाती है ?”

अविनाश कई बातों में बच्चे जैसे भोले थे। झट बोल उठे :
“ज़रूर, ज़रूर। गाड़ी रात के करीब आठ बजे जाती है। हिमा, ज़रा
टाइमटेबिल देख लेना। करेक्ट टाइम क्या है।”

मैं जब स्टेशन जाने लगा तो अविनाश ने कहा :

“अभी एक पेशेंट आने वाला है; अगर तुम कहो तो मैं घर पर
ही रहूँ—हिमा तुम्हें स्टेशन पहुँचा आएगी।”

“नहीं, नहीं,” मैंने कहा, “क्यों फिज़ूल तकलीफ़ दी जाय ? मैं
अकेला चला जाऊँगा। शोफ़र तो है ही, मदद कर देगा वह।”

हिमा नहीं मानी। कुछ सुस्क्राते हुए बोली : “कहीं शोफ़र मेह-
मानों को सेन्ड-ऑफ़ भी दिया करते हैं ?” हिमा का बात का पता लग
चुका था।

स्टेशन पर जब मैं अपने डिब्बे में सवार होने लगा तो हिमा की
आँखें छलछला गईं। एंजिन से सीटी की आवाज़ सुनते ही मैं तेज़ी से
हाथ मिला अपनी बर्थ पर जा बैठा। हिमा खिड़की के पास खड़ी थी।
जैसे ही ट्रेन चल पड़ी उसने एक अजीब अदा से मुझे निर्निमेष दृष्टि
से घूरते हुए कहा :

“यू मेन आर ऑल एलाइक !” और फिर वह एकबारगी धूम
पड़ी।

मैं देख रहा था—हिमा की पीठ रो रही थी।

निवेदन

इस संग्रह में, जैसा कि मैंने भूमिका में लिखा है, बीस कहानियाँ देने का विचार था, किन्तु पुस्तक आधी से अधिक छप जाने के बाद बाज़ार में यकायक कागज़ का अभाव होने के कारण, बीस कहानियों के स्थान पर, केवल पन्द्रह कहानियाँ ही दी जा सकीं—इसका मुझे खेद है।

कन्हैयालाल साहू

